॥ श्री ॥

कदम्ब

प्रणेता

आशुकवि प० जगमोहननाथ अवस्थी साहित्य-मनीषी

प्रकाशक

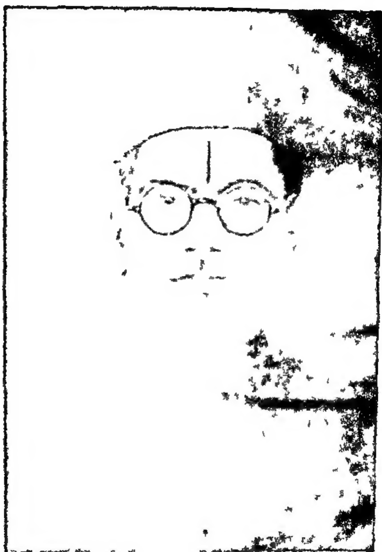
पुस्तक-भवन,

बनारस



प्रकाशक
विट्ठलदासगुप्त,
व्यवस्थापक, पुस्तक-भवन,
बनारस

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम टेबुल प्रेस,
बनारस



स
म
र्प
ण

जिस [illegible] दिया महारा [illegible] में
मुझे सुनाया [illegible]।
[illegible] मुझे [illegible] हो,
[illegible] दिया [illegible]॥

उसी

बन्धुवर

आदरणीय रायबहादुर पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी "श्रीवर"

एम० ए० लन्दन, शिक्षा-प्रसार अफसर यू० पी०

[illegible]

मेरी यह प्रथम रचना भेंट

[illegible]

भूमिका

आनन्द ही मानव जीवन का प्रधान उद्देश्य है। इसी की प्राप्ति के लिये मनुष्य का सारा कार्य-कलाप होता आया है, इसी के लिये मानव-संसार सदैव आतुर रहता है, इसी से जो संसार समावृत रहता है, वही ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है।

कराता है। इसी विचार से आनन्द-स्वरूप परमात्मा को ही कवि कहा गया है।

इस प्रकार काव्य का उद्देश्य या प्रयोजन केवल आत्मानन्द ठहरता है, किन्तु इस संसार में आत्मा का सम्पर्क मनश्चतुष्टय से होने पर उसे मन के कारण उसके सुख दुःख के भी भाव से प्रभावित होना पड़ता है। मन प्रकृति या माया का एक विकार होकर तज्जन्य सुख दुखादि का अनुभव किया करता है इसलिये मानसिक सुख को भी उद्देश्य के रूप में लेकर काव्य की रचना की गई है। मानसिक सुख भी काव्य का दूसरा मुख्य प्रयोजन माना गया है।

अतएव कहना चाहिये कि काव्य वह रम्य रचना है जिसके द्वारा मानसिक सुख तथा आनन्द की प्राप्ति होती है और जिससे मन की तीनों वृत्तियों या शक्तियों—बोध-वृत्ति, भावना-वृत्ति और इच्छा (काम) वृत्ति को सर्वथा संतोष मिल सके। यह भी ठीक है कि इनमें से किसी एक या दो को भी सन्तुष्ट करनेवाली रमणीयार्थक रचना काव्य कही जा सकती है।

ऐंद्रिक तृष्णाओं की सन्तुष्टि से उत्पन्न मन का स्वस्थ साफल्य-बोध ही सुख है, वह भी दो प्रमुख प्रकार का होता है—प्रथम तो भौतिक-वास्तु-सुख, जो इन्द्रियों के विषयों तथा तत्सम्बन्धी सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखता और इसलिये बाह्य तथा केवल ऐंद्रिक सुख कहा जाता है, दूसरा वह है जिसका सम्बन्ध ऐंद्रिक विषयों के केवल मनोगत भावों से है और इसीलिये जो आन्तरिक भाव-सम्बन्धी तथा काल्पनिक है, इसके लिये इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं, वरन् मन ही, जिसमें समस्त इन्द्रियों के मूल तथा सूक्ष्म विषय-संस्कार भाव रूप में रहते हैं—इसका सृजन तथा अनुभव करता है। चाहे ऐंद्रिक विषय सम्बन्धी सुखद पदार्थ उपस्थित हों या न हों, कल्पना के द्वारा मन उन सब पदार्थों का अनुभव कर लेता है। काव्य इसी कल्पना को उत्तेजित कर मन को ऐंद्रिक सुखोत्पादक पदार्थों की भाव रूप में उत्पत्ति कर सुख का सृजन करता है। इसीलिये कवि—सफल और सिद्ध कवि—केवल भाव-पूर्ण शब्दों के द्वारा मन को सुख देने में समर्थ होता है—कहा भी है "कविहिं अरथ-आखर बल साँचा"—तु० कवि के समक्ष भी, जैसे काव्य श्रोताओं और पाठकों के समक्ष—चाहे ऐंद्रिक विषय सम्बन्धी पदार्थ हों या न हों वह उनकी भाव रूप में उत्पत्ति अपने अन्दर करके उनको व्यंजित करनेवाले तथा उनको समूर्त और साकार बनानेवाले शब्दों में रूपान्तरित करके काव्य की सृष्टि करता है। इस प्रकार कवि-कल्पना जन्य शब्द बल व्यंजित, रुचि-राग-रस-रंजित, गुण-गठित, सुपठित भाव-सृष्टि का वर विरचि है। इसीलिये कवि शब्द का अर्थ ईश्वर भी है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार वास्तव में विचार मात्र है और विचार शब्द से परे तथा पृथक नहीं है। शब्द और विचार या भाव एक हैं, कहने के लिये दो हैं। इसलिये जगत शब्द है, जो उतने ही भाव प्रकट करता है जितने भावों से उसे कोई देखता, सुनता या समझता है। अतएव कहना चाहिये कि शब्द रचित काव्य भी वही है जिसे जिस भाव से देखें उसी भाव में वह दिखलाई पड़े। काव्य का सौंदर्य भी यही है जिसे जितने ही निकट से, जितने ही बार देखा जाय उतने ही बार वह नया सा होकर निखरा हुआ और समाकर्षक प्रतीत हो। उत्सुक उत्कण्ठा को प्रत्येक बार वह और भी अधिक उल्लसित कर सके।

काव्य की ऐसी संक्षिप्त, मार्मिक और सांकेतिक व्याख्या करके अब हम आगे बढ़ते हैं और कुछ थोड़ा सा कथन कवि तथा कविता के सम्बन्ध में भी कर देते हैं। कवि शब्दके उक्त विशिष्टार्थ को छोड़कर प्रायः हम इस शब्दका वह साधारण अर्थ लेते हैं जिसके साथ इस शब्द का प्रयोग साधारणतया किया जाता है, अर्थात् कवि हम उसे मानते हैं जो रचना-कला-कुशल मनीषी है और जो अपनी प्रतिभा के प्रभाव से ऐसे काव्य जगत की रचना करता है जिसमें पहुँचकर भावुक पाठक या श्रोता का सरस हृदय लोकोत्तरानन्द-सहोदर एक विचित्रप्रकार के नैसर्गिक सुख की अनुभूति करता हुआ इस जड़ जगत को भूलकर आत्म विभोर हो जाता है। काव्य विश्व सृजन का यह कार्य कवि अपनी उस प्रतिभा शक्ति के द्वारा करता है, जो कल्पना शक्ति के साथ उसे, उस अनन्त शक्तिशाली से प्राप्त हुई है। इस प्रकार के रचयिता को जिसका चित्त भावान्तर्विचारक है, प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा प्राप्त कवि कहते हैं, अथवा इसे स्वाभाविक या जन्मजात कवि कहते हैं। ऐसे कवि के लिये कविता की रचना केवल एक कुतूहल-कारी कौतुक-कौशल है और जिस समय वह चाहता है, किसी भी विषय पर ऐसी रचना कर लेता है, जिसे सहृदय समाज स्वभावत चाहता-सराहता है। ऐसे कवि की ऐसी प्रतिभा अभ्यास जनित और अमकृत नहीं होती। वह भी प्राक्-पुण्यकृत तथा जन्मान्तर कृत तपसादिक-सिद्ध सिद्धि सी होती है अथवा यों कहें कि वह उसे उसके प्राक्सु-कर्म प्रसन्न परमात्म प्रसाद के रूप में मिलती है। किन्तु इस प्रतिभा के विकास और प्रकाश के लिये ज्ञानानुभव की आवश्यकता होती है। यद्यपि उस अनन्त शक्ति शाली उदार ईश्वर से रचना कार्य के लिये प्रतिभा न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक मनुष्य को मिलती है, किन्तु मात्रा भेद से उसकी श्रेणी में अन्तर रहता है। कुछ मनुष्यों में यही प्रतिभा रहते हुए भी मिलती

विखरने के लिये अध्यवसाय, प्रयत्न और श्रम की अपेक्षा करती है। ऐसी प्रतिभा को श्रमाभ्यासोद्दीप्त प्रतिभा कहते हैं। इस प्रकार साधारणतया कवियों के दो मुख्य वर्ग पाए जाते हैं। प्रथम तो स्वाभाविक कवित्व-शक्तिशाली जन्मजात कवि और दूसरे यत्नाभ्यासकृत श्रमसाध्य कवि। प्रथम प्रकार के कवियों को बहुधा आशुकवि भी कहते हैं, क्योंकि ये बहुत शीघ्र ही स्वभाव-जन्य रचना-क्षमता के कारण कवि होकर ऐसे सिद्ध और प्रसिद्ध से हो जाते हैं कि किसी समय पर किसी भी विषय पर धारावाहिकता के साथ कितने ही काल तक अनवरत रूप से ऐसी रचना करते चले जाते हैं जिसमें काव्य के प्राय सभी प्रमुख लक्षण और गुण मिलते हैं। उनको ऐसा करने के लिए पहले कोई विशेष परिश्रम या अभ्यास नहीं करना पड़ता। साथ ही वे सभी रसों, विषयों और चमत्कारों में समान सफलता पाते हैं। द्वितीय श्रेणीवाले कवियों के रस सिद्ध आदि कतिपय भेद होते हैं। आज जिस कवि का हम परिचय यहाँ देना चाहते हैं वह प्रथम श्रेणी का आशुकवि है। कहना चाहिये कि वह कविता सिद्ध कवि है। विशेषता यह और भी है कि उसकी स्वाभाविक प्रतिभा को ज्ञाना नुभव से पूरा सहयोग मिल रहा है। इसीलिए कवि-सम्मेलनों में जैसा हमारे पाठकों में से बहुतों ने अनुभव भी किया होगा, उन्हें चकित कर देनेवाली सफलता मिलती है और श्रोता मण्डली उनकी कविता धारा के प्रवाह में निमग्न होकर मन्त्र मुग्ध-सी हुई मोद-मग्न हो जाती है। कुछ आशुकवि भी ऐसे हैं जिन्हें ज्ञानानुभव का विशेष सहयोग नहीं मिला, वे केवल अपरिष्कृत प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा के कारण अविरल कविता-कड़ियाँ अवश्यमेव रचते चलते हैं किन्तु उन रचना कड़ियों में जवाहर जड़ियों की-सी साहित्य-सुन्दरता और कला-कुशलता बहुत कम दिखाई पड़ती है। भावोत्कर्ष, कोमल-कान्त वाक्य विन्यास, शब्द संगठन सौष्ठव आदि काव्य के उत्कृष्ट गुणों का यदि अभाव नहीं तो बहुत न्यूनप्रभाव रहता है। हाँ छन्दबद्धता और साधारण विचारावलि अवश्यमेव साधारण जनता के लिए चित्त-चकित-कारिणी होती है।

प्रस्तुत संग्रह के सुकवि अवस्थी जी में, कहना न होगा, भगवत्कृपया उक्त सभी सत्कवि विशेषताएँ अच्छे रूप में मिलती हैं और उनकी रचनाएँ सुपठित तथा साधारण दोनों श्रेणी के लोगों के लिए सुखदायिनी होती हैं। अर्थात् साधारण और उत्कृष्ट दोनों प्रकार की कविता की रचना में उन्हें अभीष्ट सफलता मिली है। अधिक कथन की अब इसलिए विशेष आवश्यकता नहीं कि हिन्दी जनता इस समय बहुत-कुछ उन्नत और सत्समालोचना की शक्ति से सम्पन्न

हो चुकी है और उसे पथ प्रदर्शक काव्य-गुण दोष विवेचनी तथा कवि प्रतिभा परिचायक आलोचनाओं की अधिक आवश्यकता नहीं। इसीलिए हम केवल संकेत रूप से दो शब्द कहकर इस संग्रह की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं और इसकी आलोचना करने का कार्य उन्हीं पर छोड़ते हैं।

कहना होगा कि इस प्रकार के कितने ही संग्रह अवस्थी जी प्रस्तुत कर सकते हैं क्योंकि वे आशुकवि हैं। प्रातः से सायं तक और सायं से प्रात तक यदि कह दिया जाय तो वे अबाध रूप में रचनाएँ कर सकते हैं, और वे प्रतिदिन संग्रहों के रूप में प्रकाशित की जा सकती हैं। यदि सच कहा जाय तो सच्ची कवि प्रतिभा यही है और इसी के आधार पर कवि की परख भी होती है। यह अवश्यमेव सत्य है और इसकी ओर हमने पहले संकेत नहीं किया कि आशुकविता में सत्काव्य-क्षमताको अच्छी मात्रा में रहना ही किसी आशुकवि और आशुकविता को साहित्यिक क्षेत्र में सफलता और सराहना देता है।

यहाँ यह कहना भी समीचीन है कि अवस्थी जी की प्रतिभा बहुमुखी है। वे ब्रजभाषा और खड़ी बोली (उसके उत्कृष्ट साहित्यिक और साधारण दोनों रूपों) में समान सफलता से रचना करते हैं। साथ ही,प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार की रचना शैलियों में कुशल हैं, यह प्रस्तुत संग्रह से स्पष्ट हो जायगा। अब तक हिन्दी के क्षेत्र में केवल यत्नाभ्यासकृत कवियों की कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं, यह कदाचित एक आशुकवि की आशुकविताओं का पहला ही संग्रह है, इस विचार से आशुकवि अवस्थी जी को तो नहीं, क्योंकि उनका तो यह एक कौशल-कौतुक मात्र है, संग्रहकार और प्रकाशक को हम हार्दिक बधाई अवश्य देते हैं और हिन्दी-संसार से आग्रह करते हैं कि इन आशुकविताओं का अवलोकन करके हमारे साथ, हमारे प्रिय आशुकवि अवस्थी जी की आशु प्रतिभा की चाहना और सराहना करे। जब प्रकाशक महोदय के साथ अवस्थीजी ने हमसे इस पर भूमिका लिखने को कहा, तभी हमने उनसे अपना यह विचार प्रकट किया था कि वे अपनी इसी प्रतिभा के द्वारा एक खण्ड काव्य और एक महाकाव्य लिखवा दें, तो अधिक उपयुक्त हो और हिन्दी सदन में आशु महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य के दो नए रत्न आ जायँ। देखें कब तक यह कार्य सम्पन्न होता है। अन्त में रीत्यानुसार अवस्थीजी को भी उनकी सर्वसम्मानित और सर्व प्रशंसित आशु प्रतिभा की इस सुन्दर सफल यात्री के लिए हम मुक्तकण्ठ से हार्दिक बधाई देते हैं।

विद्वज्जन कृपाकांक्षी

प्रयाग विश्वविद्यालय } रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एम ' ए , डी लिट्

दो शब्द

काव्य किसे कहते हैं, इसका यथा-तथ्य विवेचन अद्यावधि नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि विद्वानों का बहुधा किसी एक विषय पर मतैक्य बहुत कम होता है। जिसमें जितनी ही प्रखर प्रतिभा होती है वह विषय की उतनी ही गम्भीर गवेषणा एवं मार्मिक मीमांसा करता है। फलत ज्यों ज्यों काल बीतता गया त्यों त्यों साहित्य शास्त्र के निष्णात पण्डितगण इसकी गम्भीर गवेषणा करते गये और आपतत काव्य शास्त्रके क्षेत्र को जटिल बनाते गये।

यों तो 'कवि' एवं उसकी रचना 'काव्य' शब्दों के प्रयोग आर्ष साहित्य में भी मिलते हैं, पर उस समय काव्य का रूप वैसा परिष्कृत न था जैसा कि बाद में देखा गया। आचार्य्य दण्डी ने छठी शताब्दी में इसे "इष्टार्थ व्यवच्छिन्न पदावली का" नाम दिया। उसके बाद से काव्य की परिभाषा का रूप निखरता ही गया। यहाँ तक कि श्रीमम्मटाचार्य्य ने "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि" की कसौटी रक्खी। कालान्तर में श्रीमदानन्द वर्धनाचार्य्य ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर उसी का प्रतिपादन किया। धाराधराधीश श्रीमद्भोजराज के समय में भी काव्य शास्त्र की विशेष चर्चा रही, और काव्य की परिभाषा में कुछ थोड़ासा हेर फेर किया गया। चौदहवीं शताब्दी में फिर आचार्यप्रवर श्रीविश्वनाथजी ने "वाक्य रसात्मक काव्यम्" कहकर काव्य की परिभाषा की। उसी काल के श्री जयदेवजी ने—

निर्दोषालक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकाररसानेक वृत्तिर्भाक् काव्य नामभाक्॥

कहकर काव्य की परिभाषा न जाने कितनी जटिल एवं व्यापक कर दी। अन्त में पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के लिये "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्य" का प्रतिबन्ध लगाकर जयदेव की जटिलता से काव्य को कुछ मुक्ति तो अवश्य दी; पर आपकी रमणीयार्थता का क्षेत्र ही इतना विस्तीर्ण हो गया कि उसमें न जाने कितने विषयों का समावेश हो सकता है। कहने का

निष्कर्ष यह कि ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों काव्य की परिभाषा में यथेष्ट परिवर्तन, परिवर्धन एवं संशोधन होते गये, और उसका रूप उत्तरोत्तर निखरता ही गया। यही कारण है संस्कृत के पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं की अपेक्षा उत्तरवर्ती रचनायें अधिक परिष्कृत हैं। काव्य के विषय में अधिक न लिखकर अब हम ग्वाल कवि की कसौटी पर ही विश्राम करेंगे, क्योंकि हमारे कवि ने कदाचित श्रीजयदेवजी एवं ग्वालजी की कसौटी पर ही अपनी रचनाओं को कसा है। ग्वालजी कहते हैं, —

'हाव' 'भाव' दावनिसयुक्त 'उक्ति' 'युक्तिन' सौं,
पुनि 'पुनरुक्ति' आदि दोपनि गये गये।
'माधुरज' 'ओज' 'परसाद' गुनसौं थलित,
'गति' अति याजिवीसे परन ठये ठये।
"ग्वाल कवि" 'रस' 'धुनि' 'गुन' 'व्यंजना' सौं युक्त,
'भूषन' ललित 'अनुप्रासनि' छये छये।
सरसुति मैया, कृपा छत्रनि छवैया,
जासौं चित के हरैया कढ़ै कवित नये नये।

कहना न होगा कि ग्वालजी की बतलाई हुई सभी साहित्यिक सामग्री श्रीमोहनजी की कविता में उपलब्ध होती है।

जब हम काव्य की पूर्व आचार्य निर्दिष्ट कसौटी पर श्रीमोहनजी की कविता को कसते हैं तो वह खरी उतरती है। आपकी रचनाओं से काव्य के सभी अंगों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। ध्वनि, रस, भाव, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति, आदि सभी काव्यांगों का यथा स्थान मनोरम सन्निवेश प्राप्त है।

श्रीमोहनजी आशुकवि हैं। आशुकवि उसे कहते हैं जो अपनी परम प्रखर प्रतिभा के प्रभाव से तत्काल किसी निर्दिष्ट समस्या अथवा विषय पर बिना किसी पूर्व तैयारी के छन्द सुना सके। हमारे बहुत से, अंग्रेजी शिक्षा दीक्षित बाबू लोगों को तथा हठात् दो चार पदों को माथापच्ची करके लिखनेवाले तुक्कड़ों को यह बात कुछ असत्य सी प्रतीत होगी, परन्तु यह ध्रुव सत्य है, और जिन लोगों को इसमें कोई सन्देह हो, वे प्रयाग में श्रीमोहनजी से मिलकर अपनी शंका का निराकरण कर लें।

कुछ समय हुआ जब आशुकविता का क्षेत्र समस्या पूर्ति तक ही सीमित था और इस काव्य क्षेत्र के एक मात्र सम्राट थे कविवर बल्देवप्रसाद जी अवस्थी, आप हमारे ग्राम के निकटवर्ती दासापुर के निवासी थे। आप अपनी दर्पोक्ति में कहा करते थे —

> *"दीजिये समस्या तापै कवित्त बनाऊँ चट,*
> *कलम रुकै तो कर कलम कराइये।"*

जिन लोगों ने श्री० बल्देवजी को देखा है उन्हें भलीभाँति ज्ञात होगा कि अवस्थीजी पलक मारते ही छन्द बनाते थे। इसी आशुकवित्व के द्वारा उन्होंने धन और मान दोनों ही उपार्जन किये थे, और अवध के तो प्राय सभी राजाओं और ताल्लुकेदारों के दरबारों में उनका निर्बाध प्रवेश था। अवस्थीजी के दिवगत होने पर उनके मध्यम पुत्र श्रीपद्मधरजी पर भी आशुकविता का कुछ कुछ प्रभाव था और आशा थी कि किसी न किसी दिन वे भी अपने पिता के समान ही यशस्वी आशुकवि होंगे पर वे तरुण अवस्था ही में अपने अग्रज कविवर गंग के अनुगामी हुये और तब से आशुकविता का क्षेत्र कुछ दिनों तक रुका रहा।

पाठकों के मनोविनोदार्थ इस रिक्त काल के एक और आशुकवि का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। आपका नाम है श्री 'वन्चूसूर' आप प्रज्ञा चक्षु हैं, संगीताचार्य्य होने का भी दम भरते हैं और आशुकवि होने का भी दावा करते हैं। मूर्खानुरञ्जन करने में आप बड़े ही पटु हैं। समस्या पूर्ति आप भी तत्काल ही करते हैं चाहे वह पूर्ति बिल्कुल बेढंगी ही क्यों न हो। हरदोई जिले के आप एकमात्र प्रतिनिधि आशुकवि माने जाते हैं। हमको भी एक बार शाहाबाद में आपकी आशुकविता सुनने का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य प्राप्त हो चुका है। हम तो सूरदासजी की एक पूर्ति सुनकर अवाक् रह गये। सवैये के चारो चरणों की प्रत्येक पंक्ति चार भिन्न भिन्न दिशाओं से खींचकर लाई हुई प्रतीत होती थी, जिनमें कोई पारस्परिक सामञ्जस्य न था और भाव का तो कोई ठिकाना ही न था। इस पर भी जब सूरदासजी ने उक्त पूर्ति सुनाई तो शाहाबाद के काव्यानुरागी उनकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे।

अस्तु, श्रीमोहनजी की आशुकविता के विषय में जैसा हमारा व्यक्तिगत

अनुभव हुआ है उसका दिग्दर्शन करा देना हम उचित समझते हैं। हमने श्री० बलदेवप्रसादजी अवस्थी के दर्शन किये हैं, उनकी पीयूष स्यन्दिनी कविता भी सुनी है और एक बार कसमण्डाधीश महाराज सूर्यबक्ससिंह जी के दरबार में उनकी आशुकविता का भी रसास्वादन किया था। उनका आशुकवि होने का दावा सर्वथा सत्य था। वे अपने काल के सीतापुर जिले के प्रतिनिधि कवि थे। अवस्थीजी मुक्तक काव्य सुनाते थे। किसी किसी समस्या की एक अथवा दो या कभी कभी तीन पूर्तियाँ तक करके सुना दिया करते थे, और इतने ही पर उनकी भूरि भूरि प्रशंसा होने लगती थी। पर श्रीमोहनजी उनसे भी आगे बढ़ गये हैं। आप किसी भी विषय पर छन्दों की लड़ी बाँध सकते हैं। इसके उदाहरण स्वरूप हम यहाँ पर दो एक घटनाओं का उल्लेख करेंगे, जहाँ हमने श्रीमोहनजी की आशुकविता के प्रत्यक्ष प्रमाण देखे हैं।

सन् १९३९ की बात है कि फ़रवरी मास में हम लोग प० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी की कन्या के विवाह में इटावे गये, कवि मण्डली इकट्ठी थी। 'पौन छक' के लिये बूट छीली जा रही थी कि कविता का प्रसंग छिड़ा। किसी मित्र ने कहा कि अच्छा "बूट" पर ही कविता सुनाई जाय। श्री चतुर्वेदीजी का संकेत पाकर मोहनजी ने वीणापाणि की वन्दना करके छन्द सुनाना आरम्भ किया और लगभग बीस मिनट तक इसी प्रकार वे सवैयों की लड़ी बाँधते रहे।

सन् १९४० में हमलोगों को सुल्तानपुर कवि सम्मेलन में जाना पड़ा। सभा मण्डप में जब अन्य कवि अपनी अपनी रचनायें सुना चुके और श्रीमोहनजी की बारी आई तो सम्मेलन की अधिष्ठात्री कुड़वार की रानी के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री जोशीजी ने मोहनजी के सामने एक गुलदस्ता लाकर रख दिया और उस पर कविता सुनाने का अनुरोध किया। फिर क्या था पूर्ववत् सरस्वती का स्मरण करके उन्होंने छन्द सुनाना आरम्भ किया, जिसे सुनकर समग्र श्रोता मण्डली मन-मुग्ध सी हो गई।

हमलोगों को ग्रीष्मावकाश में पण्डित श्री नारायणजी चतुर्वेदी के साथ शिमला एवं नैनीताल जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वहां के कवि सम्मेलनों में कविवर मोहनजी ने जैसे-जैसे जौहर दिखाये, वे वर्णनातीत हैं। श्री मोहनजी में कवित्व शक्ति एक ईश्वरदत्त विभूति है। वे व्यावसायिक कवि नहीं हैं।

शिक्षा प्रचार विभाग में एक अच्छे पद पर नियुक्त हैं। लेखक व्यवसाय की कठिनता का जिन्हें कुछ भी अनुभव है वे ही उसकी व्यस्तता को समझ सकते हैं। फिर मोहनजी को Camp clerk की हैसियत से दौरे पर भी जाना पड़ता है। पर यहाँ भी उनके नैतिक धर्माचरण में कोई विघ्न नहीं पड़ने पाता। हमने देखा है कि शिमला एवं नैनीताल की सर्दी में भी आप सूर्योदयसे पहिले ही स्नान कर लिया करते थे, जब हम लोगों को लिहाफ से मुंह निकालने का भी साहस नहीं होता था। प्रायः हमारी निद्रा उनका स्तोत्र पाठ सुनकर ही भग्न हुआ करती थी, और आँख खोलते ही बिजली के प्रकाश में हमें उनके गोरी विहुवलित मुखारविन्द के दर्शन होते थे।

श्री मोहनजी के अध्ययन का भी एक अनूठा ढंग है। रात्रि को जब अन्य लोग सो जाते हैं तब आप पढ़ना आरम्भ करते हैं। उनके निजी पुस्तकालय में कविता की upto date पुस्तकों का संग्रह है। ये पुस्तकें उनके पुस्तकालय की शोभा ही नहीं प्रत्युत उनका ज्ञान भी बढ़ाती हैं। अलंकार, छन्द सम्बन्धी ग्रन्थों का भी उनका अध्ययन है। हमने इन पुस्तकों पर उनके Marginal Notes भी देखे हैं। सम्भव है कि मोहनजी की गति इन ग्रन्थों में किसी व्यावसायिक अलंकारिक के समान न हो क्योंकि हरएक आदमी में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार या स्व० पं० शालिग्राम साहित्याचार्य्य जैसी साहित्यक क्षमता तो नहीं हो सकती, पर श्री मोहनजी को रस अलंकार का यथेष्ठ ज्ञान है, जिसके सुन्दर प्रयोगों के अनन्त उदाहरण उनकी रचनाओं से संकलित किये जा सकते हैं। फिर मोहनजी कवि हैं, आचार्य्य होने का तो वे दावा नहीं करते। फलतः उनकी कवित्व शक्ति की तुलना किसी कवि की रचना से करनी होगी न कि किसी आचार्य्य से।

श्री मोहनजी की स्मरण शक्ति भी बड़ी ही तीव्र है। हमलोग नैनीताल से लौट रहे थे। साथ में श्री कान्तानाथ पाण्डेय काव्यतीर्थ एम० ए० और पं० श्यामनारायण देव पुरस्कार विजेता भी थे। श्लोक पाठ का प्रसंग छिड़ा। श्री मोहनजी ने माघ के श्लोक सुनाना आरम्भ किये, और सभी मार्मिक स्थलों के सुंदर सुन्दर श्लोक सुनाये, यह क्रम पीलीभीत तक जारी रहा। कुछ विराम के अनन्तर कविता पाठ की बारी आई। इस बार श्री मोहनजी ने व्रजभाषा के

लब्धप्रतिष्ठ कवियों की रचनाओं से ऐसे ऐसे टकसाली छन्द सुनाये कि हम लोगों को आश्चर्य हुआ। बरसों तक साथ रहकर जिस बात का अनुभव न हो पाया था उसका अनुभव आज हुआ। सीतापुर से आगे तक मोहनजी की कविता का ताँता बँधा रहा। इससे यद्यपि अरसिक यात्रियों को पर्याप्त कष्ट भी हुआ पर हमलोगों को विशेष आनन्द आया। उसी दिन हमारी समझ में यह बात आई कि मोहनजी के खड़ी बोली के कवित्त और सवैये इतने सरस एवं स्पष्ट क्यों होते हैं। वास्तव में उसकी पृष्ठ भूमि उनका ब्रजभाषा एवं संस्कृत काव्यों एवं रीति ग्रन्थों का विशाल अध्ययन है।

मेरे विचार से मोहनजी वर्तमान कालके सर्वश्रेष्ठ आशुकवि हैं, पर उन्हें अभिमान छू तक नहीं गया है। उनका स्वभाव एक बालक के समान सरल है निरालाजी जैसी उनमें अहम्मन्यता नहीं है। पर उनमें स्वाभिमान की मात्रा बहुत ही अधिक है। यहाँ पर प्रसंगवश एक संस्मरण और लिख देते हैं।

श्री चतुर्वेदीजी की आज्ञा मानकर हमलोग सुल्तानपुर कवि सम्मेलन में गये। कवियों को ठहराने का प्रबंध एक डिप्टी कलेक्टर को सौंपा गया था। पर उन्होंने कवियों को भोजन कराते समय कुछ ऐसी बात कह दी कि मोहन जी का क्रोध-कृशानु प्रज्वलित हो उठा और उन्होंने उन्हें ऐसी बुरी तरह फटकारना आरम्भ किया कि डिप्टी साहब ने स्वयं मोहनजी से बहुत कुछ क्षमा याचना की तब उनका क्रोध शान्त हुआ।

यों तो श्री मोहनजी को कवि सम्मेलनों में जाने का कोई आग्रह नहीं है, पर मित्रों का प्रबल अनुरोध एवं श्री चतुर्वेदीजी की आज्ञा मानकर उन्हें जाना ही पड़ता है। महमूदाबाद जैसे तुच्छ सम्मेलनों में वे मित्रोंका आग्रह मानकर गये हैं—पर कवियों के कल्पतरु श्री वीरसिंह देव ओड़छाधीश तक के दरबार में कभी प्रार्थी के रूप से नहीं गये। गये तो उनकी कन्या के विवाह में बराती की हैसियत से गये। इसका कारण उनकी निर्लोभता है। एक तो ईश्वर की कृपा से वे यों ही सम्पन्न ब्राह्मण कुल की विभूति हैं दूसरे उन्हें पर्याप्त वेतन भी मिलता है, कवि सम्मेलनों में भी उन्हें कहीं कहीं से यथेष्ठ दक्षिणा भी मिल जाया करती है, इसीलिये वे इतने मस्त रहते हैं। उनकी निर्लोभता का एक उदाहरण यहाँ देना अनुचित न होगा।

सुल्तानपुर के ट्रेजरी आफिसर उनकी कविता पर मुग्ध होकर ५०) भेंट देने लगे। मोहनजी बड़े असमंजस में पड़ गये। आग्रह पूर्वक दी हुई भेंट को लौटाना लक्ष्मी और व्यक्ति दोनों ही का प्रत्यक्ष अपमान करना था, अतः उन्होंने डिपटी साहब की गौरव रक्षा के लिये उसे न लौटाकर ५०) की मूल्य का महाभारत का एक सेट इण्डियन प्रेस से लेकर एक ग्राम पुस्तकालय को दाता महोदय के नाम से सौंप दिया। यह है उनकी उदारता और निस्पृहता।

मोहनजी सदा निश्चिन्त रहते हैं। हम उनसे शिक्षा प्रसार दफ्तर में भी कई बार लखनऊ में मिले हैं और ऐसे समय मिले हैं जब उनके सामने फाइलों के ढेर के ढेर लगे थे। पर ऐसे समय में ही हमने उन्हें पूर्ववत् मुसकाते और पान खाते ही देखा है। उनके मंजुल मुख पर हमने विषाद या चिन्ता की मुद्रा अंकित होते कभी नहीं देखी।

जहाँ श्रीमोहनजी को काव्य क्षेत्र से इतना प्रेम है वहाँ समाचारपत्र क्षेत्र से उन्हें पूर्ण विराग है, और आत्म विज्ञापन क्षेत्र से तो वे सर्वथा दूर रहते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं को पुस्तकाकार छपाने का कभी उद्योग नहीं किया नहीं तो अब तक उनके कई संग्रह प्रकाशित हो जाते। इस बार न जाने प्रकाशक के किस आग्रह को मानकर वे प्रस्तुत रचना को छपाने को तैयार हुये। इण्डियन प्रेस जैसे पूर्व परिचित प्रकाशकों को उन्होंने अपनी कोई रचना प्रकाशनार्थ नहीं दी, पर प्रस्तुत प्रकाशक का स्नेह एवं अनुरोध मानकर ही उन्हें अनुगृहीत किया।

प्रस्तुत पुस्तक के नामकरण के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना आवश्यक है। कवि ने इसका नाम 'साहित्य सरोज' या 'काव्य कुसुमाकर' इत्यादि न रखकर 'कदम्ब' ही क्यों रक्खा। कवियों की सूझ बड़ी पैनी होती है। मोहनजी ने इस नामकरण में भी कोई रहस्य रक्खा है, जिसकी यथार्थता से वे ही परिचित हो सकते हैं। हमारे विचार से तो जिस प्रकार मुरलीमनोहर 'मोहन' को कालिन्दी कूल के कदम्बों से विशेष प्रेम है वैसे ही हमारे मोहन को काव्य कालिन्दी कूल के प्रस्तुत 'कदम्ब' से प्रेम है। 'कदम्ब' समूह को भी कहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में श्रीमोहनजी की स्फुट रचनाओं का अकारादि से समूह ही है। अतः इस अर्थ से भी यह नाम नितान्त समीचीन है। कदम्ब का अर्थ

चरण भी होता है। श्रीराधामाधव के चरण पङ्कजों में कवि का अनन्य भाव है। कदाचित् कदम्ब शब्द के इसी व्यापक अर्थ को समझकर कवि ने प्रस्तुत संग्रह का नाम 'कदम्ब' रक्खा है।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीमोहनजी की स्फुट रचनाओं का संग्रह है। वर्तमान युग की प्रेरणा के अनुसार यह खड़ी बोली में लिखी गई है, पर न जाने क्यों कवि ने इसमें खड़ी बोली के उपयुक्त छन्दों का प्रयोग न करके घनाक्षरी एवं सवैये लिखने का भगीरथ प्रयत्न किया। यह न तो खण्ड काव्य ही है और न मुक्तक ही है, परन्तु इन दोनों के अंतर्गत अंग्रेजी के ढंग पर अमूर्त विषयों पर स्फुट रचना है। कवि ने जनता की रुचि देखकर इस ढंग की रचना करने का प्रयास किया। श्रीमोहनजी के समान प्रतिभाशाली कवि के लिये खण्ड काव्य लिख डालना कोई बड़ी बात न थी, पर वे उसे लिखकर करते ही क्या। भला आजकल की आर्थिक संघर्ष-जनित चिन्ताओं से व्यस्त रहनेवाली जनता खण्ड काव्य अथवा महाकाव्य का स्वागत कैसे करती। न तो उसके पास इसके लिये अवकाश है, न क्षमता है और न अनुराग ही है।

प्रस्तुत कविता के प्रायः अधिकांश विषय अमूर्त हैं, अतः इसमें प्रकारान्तर से वर्णन की छटा दिखलाने का अवकाश तो नहीं है, पर उच्चकोटि की भाव प्रवणता के समावेश करने का अवसर अवश्य है, और यह बड़े सन्तोष की बात है कि कवि ने इसको अपने हाथ से नहीं जाने दिया है।

इस रचना में कवि ने ब्रजभाषा के पेटेण्ट छन्द घनाक्षरी एवं सवैये को लिखने का प्रयास किया है। कहना न होगा कि ये छन्द ब्रजभाषा ही में खिलते हैं, खड़ी बोली की रचना में वैसे सुन्दर नहीं जमते। यदि किसी प्रकार किसी कवि ने ठोक पीटकर लिख भी लिया तो उस छन्द का कार्य होना कठिन हो जाता है। पर प्रत्येक व्यापक नियम का एक अपवाद भी होता है। हमारे कवि को इस प्रयत्न में पूर्ण रूप से सफलता मिली है। आपकी घनाक्षरियों एवं सवैयों में ठाकुर गोपालशरणसिंह एवं अनूप शर्मा के छन्दों का सा ओज, प्रवाह एवं स्वारस्य उपलब्ध होता है, और आपके गीतों में श्री० निराला, पन्त एवं महादेवी वर्म्मा के गीतों जैसी तन्मयता, संगीतात्मकता एवं कमनीयता है। हमारे विचार से यदि श्रीमोहनजी गीत काव्य न लिखते तो भी कोई हानि

न थी। उन्हें तो यह क्षेत्र उन नूतन कवियों के लिये छोड़ देना चाहिये था जो छन्द, अलङ्कार और रस के बन्धनों से सर्वथा मुक्त रहना चाहते हैं।

अपने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये कवि ने पहिले भगवती वीणापाणि वाग्देवता का ध्यान किया है। कवि सरस्वती का वरद पुत्र होता है, अत उसके स्मरण करते ही उनका आना भी स्वाभाविक है। भले ही हमें इन चर्म चक्षुओं से भगवती के प्रत्यक्ष दर्शन न हो सकें। हमारे गोस्वामी जी इसके पूर्ण रूप से समर्थक हैं। देखिये—

भगत हेतु विधि सदन बिहाई।
सुमिरत शारद आवत धाई॥

कविवर रत्नाकरजी की रसीली कविता को सुनकर शारदा ने अपनी ढीली पड़ी हुई वीणा को सुरीली किया ही था।

यदि ऐसा न होता तो कवि ऐसे ऐसे सरस प्रसंगों की अवतारणा तथा ऐसे ललित छन्दों की रचना में कैसे समर्थ होते। हमारा कवि नूतनयुग का होते हुए भी प्राचीन आदर्शों का पुजारी प्रतीत होता है। अपनी आस्तिक्य बुद्धि के कारण ही काव्यक्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिये वह सरस्वती से सदा रता चाहता है। फलत उसी के प्रसाद से कवि की प्राथमिक रचना होते हुए भी प्रस्तुत मदिरा सवैया सर्वथा सुन्दर है।

कंज-मुखी, कर-कंज विराजत,
बीन सदा छवि छाजति है।
लोचन कंज, शुभासन कंज,
सुहस, के वाहन राजति है॥
छन्द - निबन्ध - भरी कविता,
रस सिद्धि तुही नित साजति है।
मंजुल - मूरति, 'मोहन' के,
मन-मन्दिर मध्य विराजति है॥

अपने आराध्य देव का आवाहन करके वह षोडशोपचार से उसकी पूजा करता है। उस पूजन सामग्री में कवि ने आरती का मुख्यरूप से उल्लेख इस प्रकार किया है —

ले वृत-वृन्द की 'दूब' हरी हरी,
थाल उर-स्थल में धर लाया।
चाय का चन्दन, अक्षर-अक्षत,
काव्य-नदी-जल, हूँ भर लाया ॥
भाव - प्रसून, रसादिक - रोचन,
केवल सचित मैं कर पाया।
माँ! प्रतिमा का प्रदीप जगा यह,
आरती 'मोहन' लेकर आया ॥

मत्तगयन्द सवैये में रूपक की छटा अपूर्व ही है। इसे पढ़ते ही हमें मथुरा निवासी स्वर्गीय नवनीतजी के निम्नांकित छन्द का स्मरण आगया, और साथ ही स्मरण आया सोमनाथजी के एक छन्द का जिन्हें हम पाठकों के मनोविनोदार्थ यहां लिख देते हैं —

अच्छत आँनद फूल के फूल,
सुचाह को चन्दन चोंपि चढावन।
त्यों "नवनीत जू" लाग की लौंग,
उमग सिन्दूर की रग रचावन।
पावन धूप सयोग सुगंधि लै,
केलि कपूर की जोति जरावन।
कान्ह, दिवारी की रैनि चले,
बरसाने मनोज को मन्त्र जगावन।

—नवनीत

चारु निहारि तरैननि की छबि,
लाग्यो महा बिरहा तन तावन।
ये "ससिनाथ जू" नेह नहे,
मग सूरा गिने नहीं पकज पावन।
पीत दुकूल में फूलनि लै,
अलबेली के प्रेम की सिद्धि बढ़ावन।
कान्ह दिवारी की रैनि चले,
बरसाने मनोज को मन्त्र जगावन।

—सोमनाथ

यहाँ पर कोई महानुभाव यह न समझ बैठें कि श्रीमोहनजी ने अपने छन्द का भाव श्रीनवनीतजी के उपर्युक्त छन्द से सकलित किया है। ऐसा अनुमान भारी भ्रम होगा। हमारे विचार से मोहनजी को कभी नवनीतजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त ही नहीं हुआ और न यह छन्द ही उन्हें याद है। वास्तव में भाव किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। सरस्वती के सभी पुत्रों का उन पर समानाधिकार रहता है। भावों के इस विभ्राट वायुमण्डल में जो कवि जितनी ऊँची उड़ान भरता है वह उतने ही अच्छे भाव लाता है, पर उनके प्रकट करने का ढग अवश्य अपना अपना होता है। जिसका भाव व्यक्तीकरण सुन्दर होता है वे उसी के कहलाते हैं। पर यह सबका काम नहीं है। अपना भाव तो सुन्दरता पूर्वक व्यक्त करते बनता नहीं, दूसरे भाव को पल्लवित अथवा परिष्कृत करना तो और भी दुष्कर है। हमारे विचार से जो लोग इस प्रयास में सफल होते हैं वस्तुत उनका उद्योग नितान्त सराहनीय है। मौलिक रचना करना नदी के प्रवाह में बहने के समान सरल है, परन्तु अनुवाद करना या किसी के भाव को लेकर पल्लवित या परिष्कृत करना कुयें में तैरने के समान कठिन है, जिसमें कवि को अपनी क्षमता एव प्रतिभा दिखलाने का अवकाश मिलना तो दूर रहा पदपद पर पतित होने की आशका लगी रहती है।

अपने आराध्य देव को अनुकूल पाकर कवि उससे कुछ कामना भी करता है, और ऐसा करना उसके लिये सवथा स्वाभाविक है। देखिये —

वरदे! वर दे, हर दे दुख तू
भरदे नवभाव, दया कर दे।
कर दे, कर दकर, पार तुही
जय कीट शिरोपरि तू धर दे॥

धर दे फिर शान कृपान में श्रम्ब!
उमग भई मत में भरदे।
भर दे फिर भारत रिक्तभँडार,
धने कृति निघ यही नर दे॥

दुर्मिल सवैये में कैसी उदात्त भावना अन्तर्निहित है। यह सरस्वती से जय तो चाहता है, पर अपने यश के लिये है, प्रतिद्वन्दियों को बाध्य

क्षेत्र में परास्त करने के लिये नहीं। वह भारत के रिक्त भण्डार को फिर से भर देने की, और विश्व को कवि बनाने की प्रार्थना करता है। प्रस्तुत कविता कवि का प्राथमिक प्रयास है, अतः इसमें यमक अनुप्रास एवं सिंहावलोकन का इतना प्रबल आग्रह है।

कविता के लिये हमारे कवि ने जो कसौटी रखी है उसपर कसने से बहुतेरी कवितायें तो व्यर्थ हो जायेंगी। पर वह तो स्वतन्त्रता का पुजारी है, अतः उसकी कसौटी पर कसने से वे ही कवितायें खरी उतरेंगी जिनमें उदात्त राष्ट्रीय भावना अन्तर्निहित हो। और यदि उनमें पूर्व आचार्य्य निर्दिष्ट काव्य गुण भी पाये जायँ तो मणिकाञ्चन संयोग समझना चाहिये।

कहना न होगा कि हमारे कवि की रचनाओं में दोनों ही गुण प्रचुरमात्रा में उपलब्ध हैं, देखिये —

जिससे न प्रकाशित विश्व हुआ,
प्रतिभा की प्रभा का प्रभाव ही क्या?
जिससे न अजीव सजीव हुए,
कविता-सुधा का सरसाव ही क्या?

जिसका न चराचर चेरा हुआ,
वह चाहना क्या वह चाव ही क्या?
जिससे न स्वदेश स्वतन्त्र हुआ,
वह भावना क्या, वह भाव ही क्या? ॥

बात भी यथार्थ है। जिस उन्मेषशालिनी बुद्धि ने अपना चमत्कार न दिखलाया उसकी प्रभा नितान्त नगण्य है। इसी प्रकार जिस कविता से मृतप्राय आत्माओं में नवजीवन संचार न हुआ उसका कोई मूल्य नहीं। और अन्त में निष्कर्ष स्वरूप उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि जिससे देश की स्वतन्त्रता न प्राप्त हुई वह कोई कविता ही नहीं। वास्तव में श्री मोहनजी के काव्य का यही सन्देश है।

वीणापाणि की आराधना करने के अनन्तर हमारा कवि महाशक्ति का स्मरण करता है और उससे प्रार्थना भी करता है। पर उसकी प्रार्थना में स्वार्थपरता का कहीं नाम भी नहीं है। उसका हृदय इस समय राष्ट्रीय भावनाओं

7CEX.

से भरा है, परन्तु कविवर भूषण के समान उन्होंने किसी तत्कालीन राजेश्वर की विजय देने की, या किसी विधर्मी विजातीय विपक्षी को विध्वंस करने की प्रार्थना नहीं की है, परन्तु उसकी याञ्चामें लोकहितैषणा की मात्रा अन्तर्निहित है, और वह देश के व्यापक शत्रु "दैन्य दैत्य" का विनाश चाहता है। साथ ही साथ वह इस "भावभरी देशतरी को समयसागर के पार" निर्विघ्न पहुँची हुई देखने के लिये लालायित है। इसके लिये वह भगवती से प्रार्थना करता है कि वह देश के किसी भी वर्तमान कर्णधार को यथेष्ठ शक्ति प्रदान कर दे। वह कर्णधार चाहे महात्मा गान्धी हो, या मि० जिन्ना, या राज - गोपालाचार्य्य, या सर स्टैफर्ड क्रिप्स या वीर सावरकर में से कोई भी क्यों न हो। कवि के विशाल हृदय में साम्प्रदायिकता की संकीर्णता को छोड़कर सब के लिये समान सम्मान है। देखिये —

देश तरी भव भार भरी, इस
समय - सिन्धु में डोले।
कर्णधार बन पार लगाओ,
जग फिर से जय बोले।
दल दो दैन्य-दैत्य, कल्याणी,
भव भय-ताप मिटाओ॥

अपने मानदण्ड के अनुसार कविता की कसौटी निर्धारित करके श्रीमोहनजी ने कवि कर्त्तव्य की भी मीमांसा की है, और यही मीमांसा सर्वथा यथार्थ भी है। वास्तव में कवि का कार्य्य वैसा ही गहन है। भारती सुपुत्र की मञ्जुल काव्य-धारा में एक लोकोत्तर शक्ति अन्तर्निहित रहा करती है, और इसी के बल पर उसमें सदियों से प्रसुप्त देश में नवजीवन संचार करने एवं राष्ट्रीय भावों को जाग्रत करने की क्षमता रहती है। भारतीय साहित्य में ऐसे राष्ट्र कवियों की कमी नहीं है। चन्द और भूषण तो इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कवि वास्तव में स्वतन्त्रता का पुजारी होने के कारण सदा परोपकार परायण ही रहता है। उसके सारे कार्य्यकलाप देश के कल्याण के लिये ही होते हैं। देखिये —

मकरन्द सरोज-सरों में लुटा,
अपने मन से ही खिला करते हैं।

निज जीवन-जीवन-साथ लिये,
सुषमा-सने मत्त हिला करते हैं ॥
फिर क्यों यह स्वारथी मूढ मलिन्द,
न मानते, दौड मिला करते हैं।
कवि-कञ्ज, सुगन्ध के तन्तुओं से,
यश-चादरें यों ही सिला करते है ॥

करता है प्रकाश प्रदान जहान को,
दीपक-सा जो जला करता है।
उस ओर क्यों जीवन का परवाना,
लिये परवाना चला करता है?
कवितामय विश्व के आँगन में,
जो कलाधर की-सी कला करता है।
कवि ऐसा स्वतन्त्र पुजारी बना,
सदा दूसरों का ही भला करता है ॥

खिंच आप से आप ही आता त्रिलोक,
अशोक हो शोक भगाते हमीं हैं।
सदियों के प्रसुप्त प्रदेश में जागृति-
आग सदा सुलगाते हमीं हैं ॥
भव-बन्धन-मुक्त बने प्रहरी,
जग रोता जहाँ, वहाँ गाते हमीं हैं।
बन 'चन्द' कहीं, कहीं 'भूषण' हो,
निज प्राण की बाजी लगाते हमीं हैं ॥

कवि अपने देशकाल का प्रतिनिधि होता है, और अपने समय की महत्त्व-पूर्ण घटनाओं को गौण अथवा प्रत्यक्षरूप से अपने काव्य में अवश्य अङ्कित करता है। इसी आन्तर्य साक्ष्य के आधार पर आगे चलकर आलोचकगण उसके काव्यकाल का निर्णय करते हैं।

श्रीमोहनजी ने भी अपने काव्य के सत्याग्रह संग्राम की उस महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है जिसमें महात्मा गाँधी ने मुट्ठी भर निहत्थे सत्याग्रहियों-

को लेकर धरसाने पर धरना देने के लिये दाण्डी से प्रयाण किया था। वीररस की कविता के लिये महात्माजी से बढकर और कौन उत्कृष्टतम आलम्बन मिल सकता था। यह तो युग की प्रेरणा ही है। वीरगाथा काल के काव्यों का नायक धीरोद्दात गुणान्वित कोई न कोई सद्वंशीय क्षत्रिय ही हुआ करता था। भक्ति काल की रचनाओं के आलम्बन भगवान रामकृष्ण ही होते थे। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रीमोहनजी ने अपनी कविता का आलम्बन महात्मा गाधी को चुना, और धरसाने के धरने के सम्बन्ध में इस प्रकार निम्नाङ्कित ओजस्वी छन्द लिखे —

साध स्वत्व-साधन का सार सत्याग्रह शस्त्र,
साहसी-सुधीर समराङ्गण में आया है।
समता न सम दृष्टि शान्ति-सील सुधा सी है,
सत्य-साधना से शौर्य सबको सिखाया है॥
शासन-समुद्र से स्वदेश-तरणी को खींच,
शक्ति से स्वराज्य-कूल-तक शीघ्र लाया है।
शत्रु-शिर शक्र-वज्र, सेवक समाज का है
गान्धी ने स्वतंत्रता का सुरस सरसाया है॥

धरना धरत ही धरनि धसकन लागी,
ध्यान धरि धर्म धुनि धरे मर जाने की।
धीर धरि ताडन में, धीर धर धाये सब,
धारना धरे हैं धरा धींस समझाने की॥
ध्येय-धुनि धारी धरकाये धुकधुकी देत,
धूम-धाम से ही धाक धारे वीर धाने की।
धूरि धूसरित धाराधर औ धरा-तल हैं,
धन्य-धन्य गाधी धन्य धूरि धरसाने की॥

रस के अनुकूल गुण, वृत्ति, अलकार एव छन्द का कैसा मनोरम सामञ्जस्य है। भाषा भावों का बराबर साथ देती जाती है। साथ ही साथ गुण एव वृत्ति उसका उत्कर्ष बढा रहे हैं। अन्तिम छन्द के सादृश्य पर मुग्ध होकर हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि यदि विधि विडम्बना वश मोहनजी की सभी रचनायें नष्ट हो जातीं और केवल ऐसे ही ऐसे दो चार छन्द उपलब्ध होते, तो भी

कवियों की गणना में उनका नाम अनामिका पर आता, और काव्यक्षेत्र में उनके लिये वही स्थान सुरक्षित रहता जो आज है।

जब देश के कोने कोने से सत्याग्रह संग्राम की ज्वाला धधक रही थी, तब भला भारतीय वीरांगणायें कैसे पीछे रह सकती थीं। यह कैसे सम्भव था कि पद्मिनी एवं लक्ष्मीबाई की प्रतिनिधियाँ महासमर यज्ञ से पराङ्मुख रहतीं। फलत इन वीरप्रसू ललनाओं ने अपने कमल कोमल वक्षस्थल पर दारुण दुनालिका के प्रहार सहर्ष सह लिये परन्तु पीछे पैर न डाला। भारतीय ललनायें धन्य हैं। यह कार्य्य उनके अनुरूप ही था। ऐसी वीरांगणाओं का यशोगान करने में भला कवि कैसे सकोच कर सकता था। फलत उसने अपनी ओजस्विनी भाषा में इनका यशोगान इस प्रकार किया है। देखिये —

दासता के बादल को चचला-सी चीड चली,
सुखद स्वराज्य की प्रभा सी बन निकली।
धोने को स्वदेश की कलक-कालिमा को मानो,
ओजमयी वीर-प्रतिमा-सी बन निकली॥
दल दुष्ट-द्रोहियों के, दुर्ग दुराचारों के भी,
दलने को देवी दुरगा सी बन निकली।
दिन फेर जब लाएँ, रिद्धि-सिद्धि सब लाएँ,
क्योंकि अबलाएँ, सबलाएँ बन निकली॥

मनो सुमनों से तन सुमन तुलाएँ वही,
शक्ति की कलाएँ ले, बलाएँ बन निकली।
चला कहीं अचला, अजल अचलों में भरे,
जालिमों को वज्र की शिलाएँ बन निकली॥
पद्मिनी कहीं तो, लक्ष्मी बाई बन जाती कहीं,
दुख-घन फाड 'चपलाएँ बन निकली।
धन्य रण-चडी-सी प्रचड अबलाएँ आज,
देश द्रोहियों की हैं चिताएँ बन निकली॥

कवि को जहाँ परमात्मा विशेष शक्ति देता है वह विशेष दृष्टि भी देता है। जनसाधारण जहाँ नैतिक घटना के निरीक्षण को अधिक महत्व नहीं देता वहाँ कवि उन्हीं घटनाओं को अपने दृष्टिकोण से देखता है और उनके सम्बन्ध में

विशेष बात भी कहना है। पुण्यतोया भगवती भागीरथी की धारा में कितने ही धर्म्म प्राण लोग नित्य प्रति स्नान करते हैं और श्रद्धापूर्वक पुष्पांजलि भी समर्पित करते हैं, पर क्या किसी ने धारा में उपेक्षा पूर्वक बहाये हुये इन प्रसूनों को भी देखा है और उसका कारण सोचने का भी कष्ट उठाया है ? इनके दुर्भाग्य पर हमारे कवि को दया तो आई है, पर जब उसने कठिन कवि कर्तव्य पर ध्यान दिया है तब उसकी दया सहानुभूति मात्र रह गई है। देखिये—

ओस के लोचन-बिन्दु से फूल,
नहा के शृंगार सजाया न होता।
हार हो प्रेमियों के मिलते उर,
मित्रता-प्रीति बनाया न होता॥
या मकरन्द - प्रलोभी सदा,
भ्रमरावली को भरमाया न होता।
बे - परवाह, प्रवाह - नदी में,
प्रसून किसी ने बहाया न होता॥

वर-चन्द्र-मरीचियों का धरा छत्र,
धरा के नक्षत्र समान रहे।
वह शेष न छत्र, नक्षत्र बुरे,
दिल के दिल में अरमान रहे॥
तुम लाडिले लाल बन स्थली के,
जग में कवि के उपमान रहे।
अब जीवन - जीवन साथ बहा,
कहाँ शान के शेष निशान रहे ?

कवि की दृष्टि कितनी पैनी है। इन प्रवाहित प्रसूनों ने वास्तव में गुरुतम अपराध किया है। इन्होंने खण्डिता विभावरी के लोचन वारि बिन्दुओं से स्नान करके शृंगार किया है, अत्यन्त अभिलाषा पूर्ण दो प्रेमी हृदयों को कभी मिलने नहीं दिया है और सबसे बड़ी विश्वासघात की बात तो यह है कि इन्होंने मधुलोभी मधुकरों को व्यर्थ ही भ्रम में डाल रक्खा है। ऐसे घोर अपराध के लिये इन प्रसूनों का बेपरवाही के साथ जल प्रवाह करा देना ही नितान्त समी

मीन था। यहाँ पर कवि ने Poetic justice का पूर्णरूप से निवाह किया है। क्रूरकर्मा चाहे जितनी लावण्यमइ सुषमा धारण कर ले पर अन्त में वह घृणा की दृष्टि से ही देखा जाता है।

हमारे कवि के हृदय सागरमें राष्ट्रीयता के भावों की उत्ताल तरंगे उठती ही रहती हैं, और इन्हीं उदात्तभावों से प्रेरित होकर वह राष्ट्रीय वीरों का यशो गान करता रहता है। देखिये —

पाके प्रताप-सा पल्लव आसन,
कटक-ताज ले शाद न होता।
मैं भी शिवाजी - समान कभी,
बरबाद तथैव अबाद न होता॥

शीश सदा सरदार सा दे
जग-बन्धन से भी अजाद न होता।
होता स्वदेश - सनेह न तो,
यह जीवन में बरबाद न होता॥

प्रस्तुत कविता में कवि ने प्रत्यक्षरूप से क्षत्रियकुल कुमुद कलाधर महाराणा प्रताप और मुद्रालंकार के द्वारा सरदार भगतसिंह एवं चन्द्रशेखर आजाद की ओर संकेत करके अपनी वीर पूजा प्रवृत्ति का परिचय दिया है। देश, जाति एवं राष्ट्र के हित पर मर मिटनेवाले वीरों की स्मृति को चिरस्थायी बनाना ही चाहिये।

प्रवाहित प्रसून का अध पतन भी कवि ने बड़ी मार्मिकता के साथ दिखाया है। मार शरासन से गिरकर यद्यपि वह देवर्षि की वीणापर गिरा, पर वहां रहकर भी उससे कोई पुण्यकार्य्य न हुआ। वहां से गिरकर उसने फिर इन्दुमती का घात किया। इसी महापाप जनित कल्मक कालिमा को धोने के लिये ही वह तरंगों में छिप रहा है। और अन्त में चिर शान्ति ढूंढने के लिये वह ऐसे प्रशान्त प्रदेश में जा रहा है जहाँ का सुख शान्ति का शाश्वत निवास है, जहाँ का अनन्त वसन्त बना रहता है, जहाँ पर उसके बन्धुओं की एवं चन्द्रमा की भी कान्ति क्षीण नहीं होती, जहाँ भ्रान्ति तथा भ्रान्ति का कहीं नाम भी नहीं है। इस छन्द में रहस्यवाद की सुन्दर झलक है। देखिये —

तुम मार-शरासन से सरके, सरके,
सर के बल जा रहे हो।
उस नारद-वीणा से या कि गिरे,
अज-भामिनी-घातक आ रहे हो॥
अथवा छिप बीच में वीचियों के,
निज-पंक-कलंक घुला रहे हो।
बस, खोजने शान्ति, प्रसून! अशांति से,
प्रांत प्रशान्त को जा रहे हो॥

पड़ती परछाईं किसी की नहीं,
बसती में बसी सुख-शान्ति वहीं है।
बसता है अनंत वसंत दिगंत में,
मधुपों की क्षय क्रांति नहीं है॥
अभिलाष-विहीन है वाटिका जो,
शशि की जहाँ धूमिल कान्ति नहीं है।
उस शांत-प्रदेश को जा रहा हूँ,
जिसमें कहीं क्रांति औ भ्रान्ति नहीं है॥

आशा पाश कितना जटिल होता है इसकी दृढ़ता को यद्यपि हमारे पूर्ववर्ती कवियों ने भलीभाँति प्रदर्शित किया है पर श्रीमोहनजी ने भी इस पर बहुत ही अच्छा लिखा है। पहिले हम यहाँ पर संस्कृत कवियों के भावों का उल्लेख करते हैं, और फिर उनकी तुलना श्रीमोहनजी की रचना से करेंगे। पाठक देखेंगे कि इसमें भी कमनीयता है।

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशोह्यङ्गनानाम्।
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥
—कालिदास

आशातन्तुर्न च कथयता सोऽप्यनुच्छेदनीयः।
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्या स एकः॥
—भवभूति

आशा पाशैः सलिलभरनम्रैः कुर्वीती प्राणबन्ध।

इन महाकवियों के आशा पाश ने अबलाओं के कमल कोमल हृदय को वियोग में जिला रक्खा है पर श्रीमोहनजी के आशापाश के खेल देखिये :—

ग्रीषम-ताप में दीन किसान,
तपा करता जिसका लिये भार है।
जानते नेत्र - विहीन जिसे निधि,
और अपार—अनाथ—अधार है॥
जीवन - पथ - निराश दुखी - जग
मानव का तू सदा उपहार है।
आपत्ति - अम्बुधि - जीवन - पोत की,
आशा हमारी बनी पतवार है॥

कोमल-कामना की कलियाँ चुन,
गूँथती प्रेम का तार लगा कर।
कीट - कलक लगे न कहीं,
रखती उर-अंचल ही में छिपा कर॥
साज सयोग की टोकरी में रखा,
काल ने किंतु दिया उलटा कर।
पार करेगी मुझे भव- सिंधु से,
आशा - सहेली सुमार्ग दिखाकर॥

कहीं बन्द हो बन्दिया के सँग तू,
पर मुक्ति की युक्ति सुझा रही है।
जग जीवन - मोह - समस्या कहीं,
उलझी उसे सुलझा रही है॥
सुत से बिछुड़े पिता के उर की,
कहीं वाडव-वह्नि बुझा रही है।
भव-भीर में भूले अभीष्ट उन्हें,
यह आशा सुमार्ग सुझा रही है॥

प्रसगवश कवि ने आशा की आलोचना भी की है, ठीक ही है। आलोचक का गुरुतर उत्तरदायित्व यही है कि गुरु के दोषों और शत्रु के भी गुणों की प्रशंसा करे। देखिये—

जब मंजु-मयंक कलंक लिए,
तुम आशे! कलंक से खाली नहीं।
नित पीकर हो तुम में लय विश्व
सँयोग-सुरा मृदु ढाली नहीं॥

कब तृप्ति हुई किसी की तुमसे,
तुमने भरी जीवन-प्याली नहीं?
मतवाली हुई दुनिया तुम पै,
तुम तो! किसी की मतवाली नहीं॥

वास्तविक बात तो यह है कि संसार की कोई कृति एवं कोई भी पौरुषमय निर्माण गुण दोष के समन्वय से वंचित नहीं है। जब सिन्धु जैसे विशाल हृदय पिता का यशस्वी पुत्र वास्तविक कलंक से मुक्त नहीं है, तो भला आशा की क्या बात है। आशा की सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस पर सारा संसार तो मतवाला है, पर यह किसी पर मतवाली नहीं है।

आँसू शीर्षक कविता भी अपने ठाठ की एक ही है। इस विषय पर यद्यपि श्री० जयशंकरप्रसाद एवं हृदयेशजी अच्छे से अच्छा लिख चुके हैं, पर इसके रहते हुए भी हमारे कवि के आँसुओं मे एक अपूर्व स्वारस्य है देखिये—

ज्यों कलियों में सुगन्ध सना,
शुचि जीवन में सुविकाश छिपा है।
ज्यों मधु में छिपी माधुरी है,
उसमें छवि-सा मधु-मास छिपा है॥

मूक वियोग में हूक छिपी,
तम में जिस भाँति प्रकाश छिपा है।
त्यों इन लोचन आँसू छिपे,
अरु आँसुओं में इतिहास छिपा है॥

जब लाज-लगाम लगी रसना,
बन मूक नहीं कुछ बोल सकी।
अधरों पै सँकोच के ताले पड़े,
पर वेदना गद न खोल सकी॥

उर-कोष-अनन्त का वाणी कभी,
खुल के न लगा कुछ मोल सकी।
तब अश्रु की ही अनमोल लड़ी,
उर की छिपी बातें टटोल सकी॥

आँसू भी वास्तव में अपना महत्व अलग ही रखते हैं। जहाँ लज्जा की लगाम लगी होने के कारण वाणी मूक हो जाती है, सकोच के कारण होठों पर ताले पड़ जाते हैं, जहाँ वाणी भी निःशक्त होकर हृदय कोष की अनन्त भावों का मूल्य लगाने में असमर्थ हो जाती है वहाँ आँसू हृदय के गुप्ततम रहस्य को समझ लेता है। कैसा मार्मिक छन्द कवि ने कहा है।

भारतीय पर्वों पर भी कवि ने अच्छे-अच्छे छन्द लिखे हैं। यों तो सभी त्यौहार किसी न किसी महत्वपूर्ण घटना को चिरस्थायी बनाने के लिये मनाये जाते हैं पर उनमें दशहरा एवं दीपमालिका अपना निजी स्थान रखते हैं। श्रीमोहनजी ने रामराज्यवाले दशहरे का चित्र नहीं खींचा है। उन्होंने वर्तमान काल के दीन हीन दशहरे का चित्र अङ्कित किया है, जहाँ विषमता का राज्य है। एक ओर तो किसानों को रूखी सूखी रोटी भी नहीं मिलती और दूसरी ओर पूंजीपति विलासिता में मग्न है। अर्थ के इस विषम विभाजन पर हमारे कवि के हृदय में भी क्षोभ उत्पन्न हो उठता है, पर वह रूस जैसी किसी करणी के करने का उपदेश नहीं देता पर परमात्मा से इसको दूर करने की प्रार्थना करता है।

कहीं आयु भर, भर पेट है न रूखा अन्न,
रम्भा-मञ्जु-घोषा रहीं सारी कहीं रात हरा।
कहीं दीन पानी के लिये हैं बिलखाते किन्तु,
कहीं तो बरडी का नशा है चढ़ा गहरा॥
चाहक नजर के, न जर के हैं रचक भी,
कहीं नजराने के लिये है लगा पहरा।
रक्षक बने हैं हाय! भक्षक, विषमता है,
दीनों का दशहरा क्या, उनका दशहरा॥

दीपावली पर भी आप ने बड़ा सुन्दर छन्द कहा है कि इसमें कवि ने

रहती ठाठ बाँध रक्खा है। सन्देहालंकार की पुट देकर इसके वर्णन में अपूर्व सौन्दर्य उपस्थित कर दिया है देखिये —

चूर चूर हो के चन्द्र बिखरा मही पै या कि,
हीरक-प्रवालों की ही अवली सजाई है।
भूमि पर आके मुसकाई कमला है या कि,
मेदनी ने माला गज-मोतियों की पाई है॥
होली अंधकार की जली है द्वार-द्वार या कि,
दीन-ज्वाला माला दीप माला बन आई है।
हो गया दिवाला हेम-कोष का कुबेर के या,
दीपित दिवालों में दिवाली छवि छाई है॥

संसार की विषमता का भी कवि ने बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है। लोग दूसरों की किसी भी गति विधि का निरीक्षण अपने दृष्टिकोण से करते हैं। और उनका मनमाना अर्थ लगाते हैं, जो वास्तविकता से कोसों दूर रहता है। जनता के इस दूषित दृष्टिकोण की कटु आलोचना है। देखिये —

मोह-सुरा पिये, काँच के भाव में,
मानव ने मणि तोल दिया है।
अंगुलियाँ जग की उठने लगीं,
भूल से जो दिल खोल दिया है॥
क्यों न यहाँ मन मारे रहें,
मन का किसने कब मोल दिया है।
कंटक मोल लिया जीवन में,
हँस के किसी से यदि बोल दिया है।

हमारे कवि का पौराणिक ज्ञान भी कम नहीं है। प्रस्तुत कविता में जिन जिन अन्तर कथाओं का समावेश किया गया है उनसे उसके विशाल अध्ययन का पता चलता है। देखिये :—

(१) *जब वाटिका में रघुनाथ का हाथ,*
पकड़ा निज जीवन दान किया।

(ii) नाथ ! जिस भारत की भावमयी भूमि पर,
भक्त-भावनाएँ भरने को दिया पहरा। (भक्तमाल)

(iii) लाखों ललनाओं का सतीत्व हरा जाता वहीं
एक के लिये ही जहाँ रण किया गहरा॥ (महाभारत)

(iv) होता अनग अनग न, शेष-
धरा अपने शिर यों धर लेते। (कुमार सम्भव)

(v) श्री रघुनाथ भी शंकर-चाप के,
तो युग खड न यों कर देते॥ (वाल्मीकि)

श्री तुलसी शव काठ प्रमान के,
सर्प की रज्जु न यों धर लेते। (गोसाइ)
आरा का अजन आँख में अजित,
आहत प्रेमी न जो कर लेते॥

(vi) अज-भामिनी-घातक आ रहे हो—(रघुवश)

(vii) दल दुष्ट-द्रोहियों के, दुर्ग दुराचारों के भी,
दलने को देवी दुरगा सी बन निकली।—(देवीपुराण)

(viii) जब मजु-मयक कलक लिये,
तुम आरो ! कलक से खाली नहीं।—(श्रीमद्भागवत)

इस प्रकार की बहुतेरी अन्तर् कथाओं का समावेश कवि की सर्व प्राचीन प्रखर प्रतिमा एव बहुज्ञता का परिचायक है —

जहां श्री मोहनजी ने वीररस के सुन्दर छन्द कहे हैं वहां करुण रस के भी सुन्दरतम छन्द कहे हैं। प्रस्तुत छन्द में एक सद्य विवाहिता विधवा का चित्र अंकित किया गया है। कितना हृदयस्पर्शी भाव है इसे पढकर

प्रीतम - प्रेम - सुहाग - सिन्दूर,
अभी भरपूर न जो भर पाई।
दर्पण-सा जिसका मुख देख,
सिंगार-सुधार न जो कर पाई॥

हाथ में हाथ धरा जिसका,
उसका फिर हाथ न जो धर पाई।
थी उर आशा मिले भर के,
मरने चली, किन्तु न जो मर पाई॥

प्रेम-सुरा चख-प्यालियों में भर,
जो नित मंजु पिया करती है।
कल्पित-सीमित से जग में,
सुख-स्वप्न-समाधि लिया करती है॥

ढारिके लोचन-वारि के मोतिन,
निर्मित हार किया करती है।
जीवन की बलि-वेदिका में,
तुम्हें देख के आरो! जिया करती है॥

अपिग्रावारोदितिदलति रविवज्रस्यहृदय —उत्तर रामचरित

यहा पर हम करुणरस के दो छन्द और उद्धृत करते हैं —

कछु भेद "फनीस" लखान्यो नही
गहि मारे ही ताल में बोरी गई।
मही मैया विहाल भरी सी परी,
यह चूनरी लाल हू छोरी न गई॥

अरु एतेमे कोउ सखी तहं आय कै,
धोय सुभाल की रोरी गई।
नहि नेकहू कारन जानि पर्यो,
गहि चूरी चराक दै फोरी गई।
—"फनीस"

घर ब्याह रच्यौ फिरती ललना,
सिनिमाके मनौ पट पे परछाई।
चुरिहारिन आइ लिये चुरियां,
सहसा सधवा उतको उठिधाई।

बिधवा नवसाल की रोय कह्यो,
मोहि काहे नहीं चुरियाँ पहिराई।
बडी भोली सी जानि न बोली कछू,
मनिहारिन की अँखियाँ भरि आई।

—अज्ञात

अन्त में हम परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि वे श्री मोहनजी की प्रतिभा को वैसा ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रदान करते रहें जिससे हमारे कवि अपनी सुललित रचनाओं से भारती के भण्डार को भरते रहें और साथ ही साथ मातृभाषा के गौरव एवं हिन्दी के अभिमानी बने रहें। परमात्मा ऐसे उदीयमान आशुकवि को दीर्घ जीवन प्रदान करे।

सेन्ट्रल ट्रेनिङ्ग स्कूल, यमी }
प्रयाग }

श्री हरदयालुसिंह,
अध्यापक

इन्धा वाणी मेरे द्वारा कहे, उसे, यह मित्र लिपि बद्ध कर ले, और फिर वह मुझे न दिखा कर, जिससे मैं फिर परिवर्तन न कर सकूँ, छपा दे। यही हुआ भी और यह संग्रह आप लोगों के सम्मुख आ गया। अतएव, इसके समुपस्थित होने का श्रेय, वस्तुत मुझे न होकर, प्रथम तो भगवती भारती को है और फिर मेरे मित्र श्री महाकवि बचनेश जी के सुपुत्र कविवर पं० रामकुमार जी मिश्र "मानस" को है, जिन्होंने इन रचनाओं को, जिस समय यह मेरी रसना से निकलीं, लेखनी से नहीं, संग्रहीत किया और इनके प्रकाशक महोदय को है जिन्होने श्री अशर्फी लाल जी के सहयोग से प्रकाशित कर आप लोगों के सम्मुख उपस्थित किया।

मुझे भी इन्हें देख कर कुतूहल और आंशिक सुख होता है। आंशिक इस लिये कि यह कोई कार्य विशेष नहीं हुआ। साहित्य के सदन में कोई रुचिर रत्नावली न आई, लेकिन मेरा यह ऐसा विचार भी न था। यह यदि मित्रों के रुच्यानुकूल हो गया तो मुझे संतोष ही है। मैं तो इसे उनके लिये एक साधारण प्रणति ही समझता हूँ।

कुछ बड़े प्रिय मित्रों ने मुझसे यह आग्रह किया है कि मैं इस प्राप्त प्रसाद के द्वारा हिन्दी साहित्य-सदन में कम से कम एक महाकाव्य, एक खण्डकाव्य, एक गीतकाव्य और एक मुक्तावली रच कर रखूँ। यह विचार मुझे भी अँचा और आशा है कि निकट भविष्य में ही आप महानुभावों के सम्मुख, यह विचार कार्य रूप में परिणत होकर आ जायगा।

दो शब्द मुझे अपने सुयोग्य आलोचकों से भी कहने हैं। पहिले तो यह कि प्रायः आलोचकों को आलोचना के लिए काव्य की वे पुस्तकें मिलती हैं, जिन्हें कवियों ने विचार-पूर्वक लिखा है। वे पुस्तकें उन्हें नहीं मिलतीं, जिन्हें वाणी के प्रसाद-स्वरूप प्रतिभाप्राप्त सुकवियों ने लिखा नहीं, किन्तु देवी की कृपा से केवल कहा और सुनाया है। इसलिये आलोचकों को इसका ध्यान रखना चाहिये। किसी के लिये काव्य कोई बड़ी कला, कष्टसाध्य वस्तु तथा प्रयत्न प्राप्त प्रतिभाकी अभिव्याप्ति होगी। मेरे लिए विरंचि वल्लभा की कृपा से, यह एक कुतूहल और कौतुक की वस्तु है। सम्भव है, कोई इसे अतिशयोक्ति कहे, किन्तु यह स्पष्ट कथन है। मैं अतिशयोक्ति जानता ही नहीं। यह अहमन्योक्ति भी नहीं, क्योंकि मैं अपने लिये नहीं कहता। यह सत्य स्वभावोक्ति है, क्योंकि विद्या की अधिष्ठात्री के लिये कही गई है।

अधिक और मैं क्या कहूँ। आलोचक एक जीव ही दूसरा है। जैसे कवि एक दूसरा देवता है। आलोचक भी अधिकार रखता है, किन्तु केवल अनुचर का सा, जो

अपने स्वामी या स्वामिनी की भाषा, उसके भाव, और उसकी रुचि आदि के समझने
की चेष्टा करता है। उसका कर्तव्य है कि वह सरस्वती के, जो कवियों की
रसना पर रहती है, भाव आदि के समझने का प्रयत्न करे। तब कुछ उस पर
अपनी ओर से दृष्टिपात करे। कहा जाता है कि, आलोचक कवि और काव्य का,
उत्कर्ष अथवा अपकर्ष हुआ करता है। होता होगा, हम इससे क्या
प्रयोजन ! हम यह समझते हैं कि कवि और काव्य वीणावादिनि की कृपा से
सदैव उत्कृष्ट हैं। उन्हें कौन क्या बना सकता है। यह केवल कल्पना है, दम्भ है।
वर्तमान समय में, कुछ नये कवियों ने काव्य को खेल बना डाला है और
उनके ऐसा करने से साहित्य-सदन की श्री, हतश्री हो रही है। वाणी को
क्लेश पहुँच रहा है। प्राचीन काव्यकारों पर, इन पल्लवग्राहि पाण्डित्य पूर्ण, प्रशस्त
कवियों के यशके आकांक्षी नवयुवकों के द्वारा अनर्गल आक्षेप किये जाते हैं। उनसे
मेरा यह कहना है कि वे पूज्य प्राचीन कवियों का अपवाद करके यश की इच्छा
छोड़, सब ओर से मुँह मोड़, भगवती से नाता जोड़ लें। देखें, वे वस्तुत
यशस्वी कवि हो सकेंगे। जैसी वे रचनायें करते हैं, यदि वे शान्त रह कर
और कुत्सित प्रलाप न करके, सत्कवियों के विचार उन रचनाओं के सम्बन्ध मे
सुनें, तो उन्हें ज्ञात होगा कि वे कविता से कितनी दूर हैं। यह दूसरी बात है
कि वे यह मान लें कि जो हम लिखते हैं, गाते हैं, वही कविता है। अगर यह भी
है, तो भी गाने के कुछ नियम हैं। गावें, किन्तु, गावें वे नियमानुसार। मैं तो
यही समझता हूँ। जैसा कहा है, "शायरी खेल नहीं जिसको कि लड़का खेले"।
इन नवयुवक कवियों ने, बहुत से वाद, अथवा प्रवाद कहें तो ठीक है, उठा
कर काव्य के सुखद क्षेत्र में विवाद का बवन्डर उठा रखा है। हम इन वाद
विवादों को बाद करके, निर्विवाद यह मानते हैं, कि काव्य वास्तव में वाणीवाद
है, और बिना वाणी की सदुपासना के प्राप्त नहीं हो सकता। यह गर्वोक्ति नहीं,
शुद्ध स्वभावोक्ति है, जिस वाद विवाद पर जो कोई कहे, उस वाद पर, उस वाद
के सब कवियों के कह चुकने के बाद बहुत अधिक सम्वाद, अनुवाद नहीं,
मेरी छोटी प्रतिभा उसी वीणावादिनि के कारण आबाद कर सकती है। इसका
कदापि अपवाद नहीं हो सकता। एक नहीं, अनेक कवि-सम्मेलनों में, ऐसा
विवाद छिड़ कर निर्विवाद रूप में सिद्ध हो चुका है। मैंने यह इसलिये कहा
कि इस समय में अगर इस प्रकार की रचनाओं के देखने वाले आनन्द न पावें तो
मेरा दोष नहीं। मैं तो वही कहता हूँ, जो माँ कहलाती है।

अन्त में मुझे अपने उन गुणग्राही महानुभावों को धन्यवाद देना है जो वस्तुतः सरस्वती-सेवक, कवि-काव्य-कला प्रेमी तथा सत्साहित्यानुशीलन के प्रेमी हैं। सर्व प्रथम आदरणीय काव्य कला-प्रवीण डाक्टर रमाशंकरजी शुक्ल 'रसाल' एम ए, डी लिट् ने इस संग्रह की भूमिका के लिखने का जो कष्ट उठाया है, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। साथ ही मैं अपने स्नेही ठाकुर दलजीतसिंह जी राठौर डिप्टी कलेक्टर, ठाकुर जमुनाप्रसाद सिंह जी इनकमटैक्स आफिसर तथा पं० योगेन्द्रनाथराय का जिन्होंने समय समय पर मुझे प्रोत्साहन दिया है, उनके उस कृपापूर्ण प्रोत्साहन के लिये कृतज्ञ हूँ।

इस संग्रह से यदि भगवती भारती के किसी भी भक्त को कुछ आनन्द प्राप्त होगा, तो मैं समझूँगा कि मेरा यह कार्य सार्थक है। साथ ही, भविष्य में माता की आराधना के लिये, और भी कुछ कल-काव्य सुमनों से सुसज्जित पूजनोपचार के लाने का प्रयत्न करूंगा।

वसंत पंचमी,
प्रयाग

विनयावनत—
"मोहन"

अनुक्रमणिका

१	सरस्वती-स्मरण	१
२	भारती	३
३	कामना	४
४	अभिलाषा	५
५	कविता	६
६	महाशक्ति के प्रति	७
७	कवि की कविता का महत्व	८
८	कवि	९
९	भारत की देवियाँ	११
१०	विजया दशमी	१२
११	दीपावली	१४
१२	प्रवाहित प्रसून	१५
१३	आशा	१६
१४	कवि की आशा	२६
१५	महात्मा गान्धी	२७
१६	आँसू	२९
१७	मानव	३०
१८	दुनिया	३१
१९	क्षण-भंगुरता	३२
२०	जीवन-प्यादर	३५
२१	मनमोहन पाकि दया न रही	३७
२२	ग्राम	४०
२३	जगाओ मत	४५
२४	सन्देश	४८
२५	माया	५१
२६	अभिलाषा	५३
२७	सुख-दुख	५६
२८	माँझी से	५७
२९	चेतावनी	६०
३०	एक गीत—तुमसे मिलूँ कहाँ मैं कैसे ?	६३
३१	कुछ मुझसे कहने आये थे !	६५

कदम्ब

सरस्वती-स्मरण

कंज-मुखी कर-कंज विराजत,
बीन सदा छवि छाजति है।
लोचन कंज, शुभासन कंज,
सुहंस के बाहन राजति है॥

छन्द - निबन्ध - भरी कविता,
रस-सिद्धि तुही नित साजति है।
मञ्जुल-मूरति 'मोहन' के,
मन-मन्दिर-मध्य बिराजति है॥

—काव्य-जगत की मेरी पहली छवि







आरती

ले घृत-वृन्द की दूब हरी हरी,
थाल उर-स्थल में धर लाया।
चाव का चन्दन, अक्षर-अक्षत,
काव्य-नदी-जल हूँ भर लाया॥

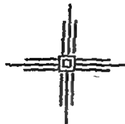
भाव-प्रसून, रसादिक-रोचन,
केवल सचित मैं कर पाया।
माँ! प्रतिभा का प्रदीप जगा यह,
आरती 'मोहन' लेकर आया॥



कामना

वरदे ! वर दे, दर दे दुख तू
भरदे नव-भाव, दया कर दे।
कर दे, कर देकर, पार तुही,
जय-कीट शिरोपरि तू धर दे॥

धर दे फिर शान कृपान में अम्ब !
उमग नई मन में भरदे।
भर दे फिर भारत-रिक्त-भँडार,
बने कवि-विश्व यही वर दे॥



अभिलाषा

उड़ चन्दन ऊँचे भाग उर के,
हर वन्दना है स्वर धोय करें।
सन्ध्या भी सन्ध्यामी नदा,
मुग्ध-नगर ही का हम पोस धरें॥



कविता

जिससे न प्रकाशित विश्व हुआ,
प्रतिभा की प्रभा का प्रभाव ही क्या ?
जिससे न अजीव सजीव हुए,
कविता-सुधा का सरसाव ही क्या ?

जिसका न चराचर चेरा हुआ,
वह चाहना क्या वह चावही क्या ?
जिससे न स्वदेश स्वतंत्र हुआ,
वह भावना क्या, वह भाव ही क्या ?॥

महाशक्ति के प्रति

महा शक्ति दे महाशक्ति माँ !, फिर से सुप्त जगाओ ।
नव स्फूर्ति दे मुक्ति-मूर्ति अब, भक्ति - भाव उमगाओ ॥
देश-तरी भव-भार-भरी इस, समय - सिन्धु में डोले ।
कर्णधार बन पार लगाओ, जग फिर से जय बोले ॥

× × × ×

ज्ञान मार्ग-शुभ-कर्म-मार्ग वर, भक्ति - मार्ग दरसाओ ।
जागरूकता हो अणु-अणु में, सुधा - धार सरसाओ ॥
दल दो दैन्य-दैत्य, कल्याणी !, अब त्रय ताप मिटाओ ।
अघ-क्षालिनी, शान्ति-शालिनी, यह तम - तोम हटाओ ॥

× × × ×

शोक-हारिणी, धर्म-धारिणी, भय - निवारिणी आओ ।
सत्य - शिव - सुन्दरमय अब, वरद - हस्त फैलाओ ॥
हम भूलें, भव-चक्र-चालिनी !, पर तुम यों न भुलाओ ।
विजयसारिणी ! विजय-हिंडोले, हमको पुन झुलाओ ॥

× × × ×

जय ऐश्वर्य्य-शालिनी माता, विश्व - पालिनी आओ ।
कार्यकारिणी, लोक-तारिणी, भव - विहारिणी आओ ॥
जय काली करालिनी माता, मुण्ड - मालिनी आओ ।
जगततारिणी, विभवचारिणी, 'वर ब्रूहि" कह जाओ ॥

कवि की कविता का महत्व

गीता के अधार में न, मेरु के पसार में न,
विश्व - विसतार में न सुरसरि - धार में।
विद्युत के तार में न, शेष-फुफकार में न,
बाडव - बगार में न प्रलय - प्रसार में॥

चाप-चक्र-वार में न, शिवा-तरवार में न,
गज की गुहार मे न हरि-अवतार में।
आती है विचार में न, शक्ति क्या भरी है देव !
भारती-सपूत मञ्जु तेरी काव्य-धार में॥



कवि

(१)

मकरन्द सरोज-सरों में लुटा,
अपने मन से ही खिला करते हैं।
निज जीवन जीवन-साथ लिये,
सुषमा-सने मस्त हिला करते हैं॥

फिर क्यों यह स्वारथी मूढ मलिन्द,
न मानते, दौड़ मिला करते हैं।
कवि-कंज, सुगन्ध के तन्तुओं से,
यश-चादरें यों हीं सिला करते हैं॥

(२)

करता है प्रकाश प्रदान जहान को,
दीपक सा जो जला करता है।
उस ओर क्यों जीवन का परवाना,
लिये परवाना चला करता है?

कवितामय विश्व के आँगन में,
जो कलाधर की-सी कला करता है।
कवि ऐसा स्वतंत्र पुजारी बना,
सदा दूसरों का ही भला करता है॥

नौ

(३)

खिंच आप से आप ही आता त्रिलोक,
अशोक हो शोक भगाते हमीं हैं।
सदियों के प्रसुप्त प्रदेश में जागृति-
आग सदा सुलगाते हमीं हैं॥

भव-बन्धन-मुक्त बने प्रहरी,
जग रोता जहाँ, वहाँ गाते हमीं हैं।
बन 'चन्द' कहीं, कहीं 'भूषण' हो,
निज प्राण की बाजी लगाते हमीं हैं॥

(४)

कवि एक कला दिखला दे जहाँ,
वहाँ शीश अनेक झुका करते है।
रवि-चन्द्र विमोहित हो दिन-रात ही,
भाँवरी भरि भरा करते है॥

इस विश्व-विमोहिनी वीणा-तले ही,
चराचर आके लुका करते है।
यह मानना होगा कि वैभव भी,
यहाँ नित्य बना औ फुँका करते हैं॥

भारत की देवियाँ

(१)

दासता के बादल को चचला-सी चीड चलीं,
सुखद स्वराज्य की प्रभा सी बन निकलीं।
धोने को स्वदेश की कलक-कालिमा को मानो,
ओजमयी वीर-प्रतिमा-सी बन निकलीं॥

दल दुष्ट-द्रोहियो के, दुर्ग दुराचारो के भी,
दल्ने को देवी दुरगा सी बन निकलीं।
दिन फेर अब लाएँ, रिद्धि-सिद्धि सब लाएँ,
क्योंकि जनलाएँ, मनलाएँ बन निकलीं॥

(२)

मनो सुमनों से तन सुमन तुलाएँ वही,
शक्ति की कलाएँ ले, नलाएँ बन निकलीं।
चला कहीं अचरा, अजल अचलों में भरे,
जालिमों को वज्र की शिलाएँ बन निकलीं॥

पद्मिनी कहीं तो, लक्ष्मीबाई बन जातीं कहीं,
दुख-घन फाड चपलाएँ बन निकलीं।
धन्य रण-चडी-सी प्रचडी अबलाएँ आज,
देश-द्रोहियो की है चिंताएँ बन निकलीं॥

विजया दशमी

(१)

आई थी असुर-आततायियों की सेना जब,
देव-द्विज-वृन्द शीश द्वन्द्व-घटा छाई थी।
छाई थी निराशा अघ-ओघ के-सु गर्भ ही में,
महारात्रि रावण-निधन की छिपाई थी॥

पाई थी शरण अशरण हो विभीषण ने,
सीता-सम्पदा के मिलने की घड़ी आई थी।
आई थी, यही थी दर्शनीय दशमी की तिथि,
दैत्य-दलने में दीनबन्धु की दुहाई थी॥

(२)

कोमल-कलेवर-कपट-परिधान सजे,
बुद्धि में विनाश-तम कैसा घिरा गहरा?
बान्धव-विरोध-क्रोध-अनुरोध-बीड़ा लिये,
भीषण विभीषणपने का केतु फहरा॥

भायप भरत का न भारत मही में मूल,
फूट-फूट फूट का विषैला जल छहरा।
माथ दासता से भारतीयों के झुके हैं नाथ!
खाली हाथ दलित मनावें क्या दशहरा?

(३)

कहीं आयु भर, भर पेट है न रूखा अन्न,
रम्भा-मञ्जु-घोषा रहा सारी कहीं लहरा।
कहीं दीन पानी के लिये है बिलखाते किन्तु,
कहीं तो बरडी का नशा है चढ़ा गहरा ॥
चाहक नजर के, न जर के हैं रचक भी,
कहीं नजराने के लिये है लगा पहरा।
रक्षक बने हैं हाय! भक्षक, विषमता है,
दीनों का दशहरा क्या, उनका दशहरा ॥

(४)

नाथ! जिस भारत की भावमयी भूमि पर,
भक्त-भावनाएँ भरने को दिया पहरा।
लाखों ललनाओं का सतीत्व हरा जाता वहाँ,
एक के लिये ही जहाँ रण किया गहरा ॥
छात्र-तेज-हीन, छत्र-हीन, शस्त्र-हीन वही,
जिनका प्रताप-केतु व्योम तक फहरा।
आवें आप फिर तो मनावेंगे दशहरा भी,
काल ने विपत्ति-सिन्धु क्योंकि दिया लहरा ॥

दीपावली

चूर चूर हो के चन्द्र बिखरा मही पे या कि,
हीरक-प्रवालों की ही अवली सजाई है।
भूमि पर आके मुसकाई कमला है या कि,
मेदनी ने माला गज-मोतियों की पाई है॥

होली अन्धकार की जली है द्वार-द्वार या कि,
दीन-ज्वाल माला दीप माला बन आई है।
हो गया दिवाला हेम-कोष का कुबेर के या,
दीपित-दिवालों में दिवाली छवि छाई है॥



प्रवाहित प्रसून

(१)

ओस के लोचन-विन्दु से फूल,
नहा के शृंगार सजाया न होता।
हार हो प्रेमियों के मिलते उर,
भिन्नता-प्रीति बनाया न होता॥

या मकरन्द - प्रलोभी सदा,
भ्रमरावली को भरमाया न होता।
बे - परवाह, प्रवाह-नदी में,
प्रसून किसी ने बहाया न होता॥

(२)

वर-चन्द्र-मरीचियो का धरा छत्र,
धरा के नक्षत्र समान रहे।
नट शेष न क्षत्र, नक्षत्र बुरे,
दिल के दिल में अरमान रहे॥

तुम लाडिले लाल वन-स्थली के,
जग मे कवि के उपमान रहे।
अब जीवन जीवन साथ बहा,
कहाँ शान के शेष निशान रहे॥

(३)

वसुधा पर रूप-सुधाकर-पुष्प,
तुम्हीं अमरों से उतारे गये।
फिर वृन्त के दोले में दोलित हो,
सिर माली-करों से उतारे गये॥

शिव-शीश चढे, न मिली क्षण शान्ति,
पुजारी - करों से उतारे गये॥
सरिता में बहाये गये जब, तो,
भव की लहरों से उतारे गये॥

(४)

तुम मार-शरासन से सरके, सरके,
सर के तल जा रहे हो।
उस नारद-वीणा से या कि गिरे,
अज-भामिनि-घातक आ रहे हो॥

अथवा छिप नीच में वीचियों के,
निज-पक्-कलक धुला रहे हो।
बस, खोजने शान्ति, प्रसून! अशान्ति से,
प्रान्त प्रशान्त को जा रहे हो॥

(५)

जब वाटिका में रघुनाथ का हाथ,
यहा निज जीवन दान किया।
जय-माल बना उर-मध्य बसे,
बस जीवन-सगर ठान दिया॥

पहिले कर सीय ने दूत मुझे,
हरि का फिर माल दे मान किया।
जय-माल-विहीन-स्वदेश-दशा,
लखि जीवन-साथ पयान किया॥

(६)

पाके प्रताप-सा पल्लव शासन,
कटक-ताज ले शाद न होता।
मे भी शिवाजी-समान कभी,
बरबाद तथैव अबाद न होता॥

शीश सदा सरदार सा दे,
जग-बन्धन से भी अबाद न होता।
होता स्वदेश-मोह न तो,
यह जीवन में बरबाद न होता॥

(७)

पडती परछाईं किसी को नहीं,
बसती मे बसी सुख-शान्ति नहीं है।
बसता है अनन्त वसन्त दिगन्त में,
बन्धुओं की क्षय कान्ति नहीं है॥

अभिलाप-विहीन है वाटिका जो,
शशि की जहाँ धूमिल कान्ति नहीं है।
उस शान्त-प्रदेश को जा रहा हूँ,
जिसमें कहीं क्रान्ति औ भ्रान्ति नहीं है॥



आशा

(१)

निश्चल नींव विरंचि के विश्व की,
भीति में जो कि अनित्य रही है।
आदि से अन्त का मेल मिला,
सुर-मानव संगति नित्य गही है॥

भाग्य के सीप की मुक्ता अनूपम,
सम्बल पन्थ का माने मही है।
गर्भ में आके निराशा छिपी,
बस आशा महान अनित्य वही है॥

(२)

ग्रीषम-ताप में दीन किसान,
तपा करता जिसका लिये भार है।
जानते नेत्र-विहीन जिसे निधि,
और अपंग—अनाथ—अधार है॥

जीवन-पन्थ-निराश दुखी-जग-
-मानव का तू सदा उपहार है।
आपत्ति-अम्बुधि-जीवन-पोत की,
आशा हमारी बनी पतवार है॥

(३)

भानु - मयक - मरीचियों में,
कभी वारिद-बूँद से झूमती आवे।
फेनिल-सागर के उर में कभी
निर्जन कानन लूमती आवे॥

कटकों से घिरे पाटल में,
अलि की अवली सँग झूमती आवे।
बेठ कभी मन - मन्दिर मे,
शशि से शिशु को तुही चूमती आवे॥

(४)

शैल-शिला शिखरों पर से,
शिलाजीत के रूप में तु बहती है।
होके कुरग - मरीचिका - सी,
मरु-भूमि में मस्त कहा रहती है॥

तू तप से तप तापसी के,
उर में नित ही हिम हो बहती है।
मोह में जीव किये अवगुंठित,
तू सँग छाया बनी रहती है॥

(५)

भार लिये जिसका तितली,
बनी बावली फेरे दिया करती है।
कोकिला कंठ से कूक के कानन,
आप पुकार लिया करती है॥

क्यों चकवी भी फटे उर को,
निशि में चुपचाप सिया करती है।
आशे ! तुही सबके उर साहस,
देकर पार किया करती है॥

(६)

क्यो मधुपी भी कली-दल की,
ध्वनि-गान में लोरियाँ-सी भरती है ?
क्यों मकड़ी नया जाल बिछा हो,
पुजारिनो भाँवरी-सी भरती है ? ॥

क्यों कन दाने पिपीलिका भी,
नित भूधर-भागरे-सी भरती है ?
आशा ही मूक उर-स्थल में,
अनुराग का राग सदा भरती है॥

(७)

जब माल में पैठी, तिजारती के,
तब जारति ! तूही दरिद्रता है।
फिर सैनिक-ढाल में ढालती साहस,
घालती शत्रु, विचित्रता है॥

अरु वैद्य की भेषज में बस के,
नित रोगियों से किये मित्रता है।
शुचि साधु की धूनी में धूलि हुई,
धनि आशे! तुम्हारी पवित्रता है।

(८)

जब मंजु-मयंक कलंक लिये,
तुम आशे! कलंक से खाली नहीं।
नित पीकर हो तुम में लय विश्व,
सँयोग-सुरा मृदु ढाली नहीं॥

कब तृप्ति हुई किसी की तुमसे,
तुमने भरी जीवन-प्याली नहीं?
मतवाली हुई दुनिया तुम पै,
तुम तो! किसी की मतवाली नहीं॥

(९)

प्रीतम - प्रेम - सुहाग - सिंदूर,
अभी भरपूर न जो भर पाई ।
दर्पण-सा जिसका मुख देख,
सिंगार-सुधार न जो कर पाई॥

हाथ मे हाथ धरा जिसका,
उसका फिर हाथ न जो धर पाई ।
थी उर आशा मिले मर के,
मरने चली, किन्तु न जो मर पाई ॥

(१०)

प्रेम-सुरा चल-प्यालियों में भर,
जो नित्त मजु पिया करती है ।
कल्पित-सीमित से जग में,
सुख-स्वप्न-समाधि लिया करती है ॥

ढारिके लोचन - वारि के मोतिन,
निर्मित हार किया करती है ।
जीवन की बलि-वेदिका में,
तुम्हें देख के आशो । जिया करतो है ॥

(११)

कोमल-कामना की कलियाँ चुन,
गूँथती प्रेम का तार लगा कर।
कीट-कलंक लगे न कहीं,
रखती उर-अंचल ही में छिपा कर।

साज संयोग की टोकरी में रखा,
काल ने किंतु दिया उलटा कर।
पार करेगी मुझे भव-सिंधु से,
आशा-सहेली सुमार्ग दिखाकर॥

(१२)

क़हीं बन्द हो बन्दियों के सँग तू,
दर मुक्ति की युक्ति सुझा रही है।
जग-जीवन-मोह-समस्या कहीं,
उलझी है उसे सुलझा रही है॥

सुत से बिछुड़े पिता के उर की,
कहीं बाड़व-वह्नि बुझा रही है।
भव-भीर में भूले अभीष्ट उन्हें,
यह आशा सुमार्ग सुझा रही है॥

(१३)

होता अनग अनग न, शेष-
धरा अपने शिर यों धर लेते।
श्री रघुनाथ भी शंकर-चाप के,
तो युग खंड न यों कर देते॥

श्री तुलसी शव काठ प्रमान के,
सर्प की रज्जु न यों धर लेते।
आश का अञ्जन आँख में अजित,
आहत प्रेमी न जो कर लेते॥



कवि की आशा

कल्पना जाह्नवी सी कवि के,
उर-स्रोत ही से अविराम बहा कर।
विश्व नहाया करे जिसमें,
अगणादि के पातक-पुंज दहा कर॥

दे अमरत्व हितैषियों को,
फिर भक्ति-समुद्र में शान्ति लहा कर।
आशे! हमारी हमारे लिये,
इसी रूप में साथ हमारे रहा कर॥

महात्मा गान्धी

(१)

साध स्वत्व-साधन का सार सत्याग्रह-शस्त्र,
साहसी-सुधीर समराङ्गण में आया है।
समता न सम दृष्टि शान्ति-सील सुधा-सी है,
सत्य-साधना से शौर्य सबको सिखाया है॥

शासन-समुद्र से स्वदेश-तरणी को खींच,
शक्ति से स्वराज्य-कूल-तक शीघ्र लाया है।
शत्रु-शिर-शंक-वज्र, सेवक समाज का है,
गान्धी ने स्वतन्त्रता का सुख सरसाया है॥

(२)

सुख सरसात सूल-सम सब सत्रुन् को,
सानी सुर-राज सिरताज सब जानते।
सुर-वर सरवर सपने न करि सकें,
सरदार सर दार सगर मैं मानते॥

सासन मैं सम सेर समसेर-हीन सूर,
सोकन के सोषन-करन पहिचानते।
साका सब भूमि में सनाका सब देश साधे,
सान्तिमूर्ति गान्धी को देवावतार मानते॥

सचाइस

(३)

मन्द होत मुकता मतगन के मस्तकन,
चारु मुख-चन्द्र की मरीचिका निहारिकै।
मार-सान्ति मारते महान मार मारते जो,
मर्म-एकता का मत्र मजुल बिचारिकै ॥

मोह-गाढ-मर्दन, महातमा महान मजु,
अरि-मान मोचै मित्र सम तेज धारिकै।
मोहन न मोहन से कम मनमोहन में,
मानौ महाभारत मचाइयो सँभारिकै ॥

(४)

धरना धरत ही धरनि धसकन लागी,
ध्यान धरि धर्म-धुनि धरे मर जाने की।
धीर धरि ताखन में, धीर धर धाये सन,
धारना धरे हैं धरा धीस समझाने की ॥

ध्येय-धुनि धारी धरकाये धुकधुकी देत,
धूम-धाम से ही धाक धारे बीर बाने की।
धूरि - धूसरित धाराधर औ धरा-तल हैं,
धन्य-धन्य गान्धी धन्य धूरि धरसाने की ॥

आँसू

(१)

ज्यों कलियों में सुगन्ध सना,
शुचि जीवन में सुविकाश छिपा है।
ज्यों मधु में छिपी माधुरी है,
उसमें छवि-सा मधु-मास छिपा है॥

मूक वियोग में हूक छिपी,
तम में जिस भाँति प्रकाश छिपा है।
त्यों इन लोचन आँसू छिपे,
अरु आँसुओं में इतिहास छिपा है॥

(२)

जब लाज-लगाम लगी रसना,
बन मूक नहीं कुछ बोल सकी।
अधरों पै सँकोच के ताले पड़े,
अरु वेदना भेद न खोल सकी॥

उर-कोप-अनन्त का वाणी कभी,
खुल के न लगा कुछ मोल सकी।
तब अश्रु की ही अनमोल लड़ी,
उर की छिपी बातें टटोल सकी॥

मानव

(१)

हर्ष - विषाद की नाव बना,
पतवार बिना बहता ही रहा है।
चाह की दाह में आह बिना,
नित यातनाएँ सहता ही रहा है॥

काल - प्रवाह को जाना नहीं,
तन का तरु भी ढहता ही रहा है।
जान सका अपने को नहीं,
अपना-अपना कहता ही रहा है॥

(२)

बन्धन - मुक्ति न निर्मलता मिली,
सत्य के साँचे नहीं ढल पाया।
मानव चाहना में जग की,
जलता रहा तो भी नहीं जल पाया॥

वैभव जो कलपाता रहा,
कल पाया परन्तु नहीं कल पाया।
मोह - वन - स्थली में भटका नर,
जीवन - पन्थ नहीं चल पाया॥

दुनिया

मोह-सुरा पिये, काँच के भाव में,
मानव ने मणि तोल दिया है।
अगुलियाँ जग की उठने लगीं,
भूल से जो दिल खोल दिया है॥

क्यों न यहाँ मन मारे रहें,
मन का किसने कब मोल दिया है?
कटक बो लिया जीवन में,
हँस के किसी से यदि बोल दिया है।



क्षण-भंगुरता

(१)

आदि में अन्त, छिपा दुख में सुख,
भूत भविष्य बना करता है ।
राग - विराग में, आह में गान,
कहीं तम तेज घना करता है ॥

पाप में पुण्य, विकास में ह्रास का,
नित्य वितान तना करता है ।
मानव यों ही बना - बिगड़ा,
जग-आज में खेल घना करता है ॥

(२)

सर-ताज बने जो रहे जग में,
जिनके बड़े ठान ठनाये गये ।
बस तत्व-महत्व प्रमाण के जन्म औ,
मृत्यु के पर्व मनाये गये ॥

वर मानव मानवों के स्वर से,
सुरों की गणना में गिनाये गये ।
कब अन्त में जान सका उन्हें कोई,
मिटे कहाँ, कैसे बनाये गये ? ॥

(३)

क्यों क्षण-भगुर से जग में,
अभिमान में ऐसे हुजूमते जाते।
नित्य ही आशा-घनावली के,
फल कल्पित बूँद को चूमते जाते॥

मोह के मजुल तत्र में आ,
परतत्र बने पर झूमते जाते।
काल कुचक्री के चक्कर में हैं,
कुम्हार के चक्र से घूमते जाते॥

(४)

सरिता-सुख धार में मान की नौका,
लिये कोई गोते लगाते गये।
कुछ स्वार्थ-शिला से कभी टकरा,
जग जीवन में उमगाते गये॥

निज डाँड-कुबुद्धि से नीर-विवेक,
कोई खुद दूर भगाते गये।
जब डूब चले तब जब ही क्या,
जो अथाह में थाह लगाते गये॥

(५)

शान्ति न पा सका कोई यहाँ,
जितने भी गये दुख झेले चले गये।
धूप ओ छाँह में दीन-धनी,
जग प्राँगण में खुल खेले चले गये॥

ज्ञान न मुक्ति विधान बना सके,
सैकड़ों ही गुरू-चेले चले गये।
केवल नेकी-बदी यहाँ छोड़ के,
मेल मिलाये अकेले चले गये॥



जीवन-चादर

(१)

सबने जीवन-चादर अपनी आप यहाँ बुन डाली।
ज्यों उपवन की खुद ही छाँटे माली डाली-डाली॥
लगा दिये निर्बल स्वासों के सुन्दर ताने-बाने।
कर्म-यन्त्र से कसता जाता फिर भी तू दीवाने॥

(२)

पश्चाताप-आँसुओं से कर कोना-कोना गीला।
माया-माडी के छींटों से करके उसे सजीला॥
ओढ चला इस नश्वर जग में ओ! मतवाले पापी!
बुनने से पहिले काया से चादर कभी न नापी॥

(३)

इधर ढाँकता खींच, उधर खुलती जाती है काया।
जिसने ढँकना चाहा सब तन, नग्न उसी को पाया॥
अपनी चादर अपने हाथों क्यों छोटी कर डाली?
निज हाथों से ही निज घर में कैसे आग लगा ली?

(४)

है भीनी छोटी फिर भी तू इसमें छिपने आया।
जग-कल्मष-सम्पन्न कहाँ छिप सकती काली-काया॥
अब तो खुला भविष्य जिसे तू बन्द यहाँ कर लाया।
नेकी और बदी का केवल शेष रह गया साया॥

(५)

इस चादर का छोड़ भरोसा, खींच न, फट जायेगी।
तेरी करणी-कण की ढेरी, यहीं छिटक जायेगी॥
फाड़ चुका खुद जिस जीवन-चादर का कोना-कोना।
जो अपना है नहीं भला क्या उसका रोना रोना॥

(६)

छोड़ो, इस नश्वर चादर को भक्ति-वितान तना लो।
माया-हीन जगत अपना कवि तुम एकान्त बना लो॥
वहीं चिता चिर-चिन्ताओं की तुम बस एक बना दो।
इस जीवन-चादर का घर-घर गीत अतीत सुना दो॥

—आल इंडिया रेडियो स्टेशन, लखनऊ से पठित

७-१०-३७

[illegible]

मनमोहन माफिक कृपा न रही !

[illegible] रही,
[illegible] रही ।
[illegible] रही,
[illegible] रही ।

[illegible] पर [illegible] न रही ।
[illegible] माफिक कृपा न रही !

[illegible] रही ।
[illegible] रही ।
[illegible] रही ।
[illegible] रही ।

[illegible] न रही, [illegible] न रही ।
मनमोहन माफिक कृपा न रही ।

सुख ही सुख था घर-कानन में,
मुरली-ध्वनि कानन-कानन में,
नभ नाप सकें बल बामन में,
बसता वरदान सुआनन में,

यह भारत है अब क्या न वही ?
मनमोहन याकि दया न रही ?

वर हेम-लता सम कामिनियाँ,
तन पूछ पता गज-गामिनियाँ,
भरता भ्रमरी व्रज-भामिनियाँ,
वह नाथ कहाँ दिन-यामिनियाँ ?

जननी-जन है अब क्या न वही ?
मनमोहन याकि दया न रही ?

शुचि गागरियाँ दधि-क्षीर-भरी,
नव नागरियाँ पर - पीर - भरी,
मिलता नवनीत-पुनीत नहीं,
सुनते वह गीत-अतीत नहीं,

हम वे न सही, तुम क्या न वही ?
मनमोहन याकि दया न रही ?

कदम्ब

गत गौरव ही उर चीर रहा,
अब द्रौपदी का वह चीर रहा,
वह चीर न तो वह चीर रहा,
अब शेष वही उर-चीर रहा,

सत्ता वह है फिर क्या न रही।
मनमोहन याकि न्या न रही।

अवतार धरो, मत देर करो,
जन-धेनु पुकारते, कान करो,
रविजा-रज की कुछ लाज करो,
महि-भार हरो, पतवार [illegible],

मुरली धुनि दी [illegible] क्या न रही।
मनमोहन याकि न्या न रही।

—[illegible]

ग्राम

१

हे ! स्वाभिमान-संकेत ग्राम !,
आडम्बर - अम्बर - हीन सदा,
कोपीन - दीनता - दिव्य धार,
कण-कण में ही प्रतिबिम्बित है,
प्राचीन - सभ्यता - चिह्न - सार ।
तुम श्रमिकों के पुण्य-स्थल हो,
एकान्त बसे शोभा ललाम,
तुम ग्राम ! राम के प्यारे हो,
तुमको है प्यारे सदा राम ।
है छिपे यहीं नयनाभिराम,
हे स्वाभिमान - संकेत ! ग्राम !

(२)

यमुना के ललित निकुंज वही,
गंगा-सरयू के भव्य घाट,
हो चुकी अवधि, हो अवध कहाँ,
ढूँढे अपने गत ठाठ-बाट !
है सस्य-श्यामला मही वही,
खोया सोया गौरव ललाम,
हे देव ! बताओ तुम्हीं भला,
किस भाँति सजायें ग्राम-धाम ?॥
लाओ फिर त्रेता और राम !
हे स्वाभिमान-संकेत ! ग्राम !

(३)

है गोकुल पर गोपाल नहीं,
गलियाँ-ग्वालिनियाँ वही धेनु,
है बहुत बेसुरी बाँसुरियाँ,
नहिं मोहन की मोहनी बेनु ।
ले मही पूछतीं ग्वालिनियाँ,
होती विलम्ब, है कहाँ श्याम ?
घर-घर जन यहाँ सुदामा है,
संकोच कौन तब भला श्याम ?॥
जब दीनों के तुम दया-धाम,
हे ! स्वाभिमान-संकेत ! ग्राम !

(४)

तेरे अतीत के गीत अभी,
गाता है बुद्ध-चरित्र देख,
अब भी अपने उर खोल खड़े,
आघात दिखाते शिला-लेख ।
वह भग्न-भाग-चित्तौड खड़ा,
राणा प्रताप का लिये नाम ।
हो स्वतन्त्रता की शुचि समाधि,
तुम वीरों के बलिदान धाम ।
तुम वीराने पर, स्वर्ग-धाम,
हे ! स्वाभिमान - संकेत ग्राम !

(५)

तुलसी - कबीर - श्री सूर सभी,
हैं यहीं किया करते विनोद,
सारल्य-शान्ति गलियों-गलियों,
देता फेरी घर-घर प्रमोद ।
स्वर्णाम-प्रभात ले कर ऊषा,
है यहीं लिया करती विराम,
मन-मोर नचाने दुखियों के,
आ जाते हैं शुक मेघ श्याम ॥
तुम हो प्रमाण तुमको प्रणाम !
हे स्वाभिमान - संकेत ग्राम !

(६)

नूतन परिवर्तन ऋतुओं का,
नर्तन - वैषम्य - अकाल - काल,
थे कौन पूछता कौन आज,
है क्रूर-काल की यही चाल।
किस्मत का प्याला तोड़ चुके,
मर्यादा की हम तो लगाम,
अब बहुत हो चुका आ जाओ,
फिर ग्राम ग्राम घनश्याम-राम।

हा उजड़ गये वे भव्य धाम,
हे स्वाभिमान - सकेत ग्राम !

(७)

है यह सजीव-कंकाल किन्तु,
गाते हैं अपना अलग राग,
यह पूर्व भीष्म गाँवों के हैं,
इनमें न जगी अनुराग-आग।
इनकी हो नाश अविद्या तो,
लक्ष्मी नाचेगी धाम - धाम,
खेतों-खलियानों में छुपके,
छेड़ेंगे मधी मधुर श्याम ॥

भूलो न हमें अब दया-धाम।
हे स्वाभिमान - सकेत ग्राम !

तेताखित

(८)

हे ! वर्तमान ! तुम भूत बनो,
यह तम-सागर हो जाय धूर,
भाई - भाई का द्वेष मिटे,
वैभव भारत में भरे भूर !
हों सत्य कहानी पुन सभी,
सीता - सावित्री धाम धाम,
दुख-सिन्धु नाथ ! हम तैर चुके,
तव-पग-समीप अब लें विराम !
बन जाय काम, हो जाय नाम,
हे स्वाभिमान - संकेत श्याम !

(९)

प्रज्ज्वलित - प्रभाकर होवेगा,
फिर से प्रताप का इनके जब,
यह विन्ध्य-हिमालय-सागर भी,
यश-गान इन्हीं का गावें तब,
अंकित पहिले निधि-पुस्तक में,
है तीन - तालिका - मध्य - नाम,
इस बार हमारी बारी है,
आइए श्याम ! हे प्राण-धाम,
हो सुर-पुर भारत - धाम धाम,
हे स्वाभिमान - संकेत श्याम !

[illegible] १९१६]



जगाओ मत

(१)

अभी अभी सोई है पगली,
पीड़ा, इसे जगाओ मत !
स्वर-भारों से शिथिल तार,
वीणा में हाथ लगाओ मत !

(२)

मिलन-निशा अवशेष अभी है,
सुख-परिमल बिखराओ मत !
पलकों का झीना करुणा - पट,
इसका अभी उठाओ मत !

(३)

निःश्वासों के मलय - पवन से,
आशा-कली हिलाओ मत !
यह सुस्मृति-अलि-अवली रोको,
क्षण भर और जगाओ मत !

(४)

वृन्तहीन-नभ-सुमन - सदृश,
रुक जाओ तारक, जाओ मत !
मत्त मयूरी-विरही-चातक,
हृदय थाम लो, गाओ मत !

(५)

शीप-सुमन से कोमल सपने,
सुख दुख से उलझाओ मत !
ऊषा कुंकुम-थाल सजा निज,
मंगल-कलश उठाओ मत !

(६)

द्युतिमय-प्रथम-रश्मि-कंचन के,
स्यन्दन-चक्र चलाओ मत !
रविजा-रज सोती, न जगाओ,
वंशी श्याम बजाओ मत

(७)

जावक रुचिर कोकनद से ले,
हिम कण अभी गिराओ मत !
ह्रुकाओ घरा-घाराघर दोनों,
हेम - नीर नहलाओ मत !

(८)

डोलेंगे द्रुम, कूजेंगे खग,
संचित कोष लुटाओ मत !
जगकर खोना, सोकर पाना,
है, यदि, इसे जगाओ मत !

—अगस्त १९३१]



संदेश

(१)

अब सोने का समय नहीं है,
यह सोने का समय न खोना।
हस्ती तक दुनियाँ हँसती है,
फिर न रहेगा हँसना-रोना।

(२)

मुट्ठी भर कुरबानी के कण,
कर्म-क्षेत्र में होगा बोना।
मन-घट भर भर जग-पनघट से,
हमें सींचना कोना कोना॥

(३)

प्राण-आरती हृदय-थाल पर,
रह-रह हमें सजानी होगी।
प्रण-दीयट पर धर आशा की,
दीपक-शिखा जलानी होगी॥

(४)

अस्थि-चूर-चावल-रोचन हित,
रक्त-धार भी लानी होगी।
महा मत्र पढ रण-चण्डी को,
विजय-माल पहिनानी होगी॥

(५)

त्याग-कुड में शक्ति-अग्नि के,
ज्वाला - जाल खोलना होगा।
पराधीनता द्रव्य बनाकर,
स्वाहा साथ घोलना होगा॥

(६)

बलिदानों की छाप लगाकर,
दर-दर मुदित डोलना होगा।
ओ! दीवानो! महा यज्ञ कर,
विजय-पियूष घोलना होगा॥

(७)

प्राणों का सजीवन देकर,
अगणित प्राण बचाने होंगे।
छिन्न-भिन्न कटकमय पथ पर,
सिद्धि-सुमन बिकसाने होंगे॥

(८)

परिवर्तन के सपने अपने,
सब साकार बनाने होंगे।
पंच तत्व-जग रचकर अपना,
अणु-अणु सुप्त जगाने होंगे॥

(९)

अपने बल से ही ठठरी की,
गठरी हमें उठानी होगी।
इसी पार या उसी पार,
यह नैया हमें लगानी होगी॥

(१०)

जहाँ घिरी अत्याचारों की,
सघन घटा मन-मानी होगी।
दुख गोवर्द्धन जहाँ तर्जनी,
अपनी वहाँ उठानी होगी॥

—सितम्बर १९, १९४०]

माया

(१)

जीने वालों को जीवन में,
सदा मृत्यु आह्वान मिला ।
नश्वर स्वर में नित्य अनश्वर,
श्वर का गीला गान मिला ॥

हार विजय में मानव को,
परिधान कफन का मान मिला ।
इस पगली दुनिया में प्रेमी,
पागल को अपमान मिला ॥

(२)

लक्ष अलक्ष नित आशा में,
होकर निराश वरदान मिला ।
दिन को काली रात, रात को,
ऊषा का अभिमान मिला ॥

नभ-पन्थी रवि-शशि दोनों को,
नित ही पतनोत्थान मिला ।
लोल लता में लिपटा विष-धर,
व्याल छिपा अनजान मिला ॥

(८)

परिवर्तन के सपने अपने,
सब साकार बनाने होंगे।
पच तत्व-जग रचकर अपना,
अणु-अणु सुप्त जगाने होंगे॥

(९)

अपने बल से ही ठठरी की,
गठरी हमें उठानी होगी।
इसी पार या उसी पार,
यह नैया हमें लगानी होगी॥

(१०)

जहाँ घिरी अत्याचारों की,
सघन घटा मन-मानी होगी।
दुख गोवर्द्धन जहाँ तर्जनी,
अपनी वहाँ उठानी होगी॥

—सितंबर १६, १६४०]



माया

(१)

जीने वालों को जीवन में,
सदा मृत्यु आह्वान मिला।
नश्वर स्वर में नित्य अनश्वर,
श्वर का गीला गान मिला॥

हार विजय में मानव को,
परिधान कफन का मान मिला।
इस पगली दुनिया में प्रेमी,
पागल को अपमान मिला॥

(२)

लक्ष अलख नित आशा में,
होकर निराश वरदान मिला।
दिन को काली रात, रात को,
ऊषा का अभिमान मिला॥

नभ-पन्थी रवि-शशि दोनों को,
नित ही पतनोत्थान मिला।
लोल लता में लिपटा विष-धर,
व्याल छिपा अनजान मिला॥

(३)

रुदन हास्य में, घृणा प्रेम में,
भिक्षा में ही दान मिला।
मृत्यु-मुक्ति से युद्धशील को,
यों ही बस कल्यान मिला॥

धूलि कणों से सदा सुमन-,
सचय का अनुसधान मिला।
मुरझाने में ही विकास,
थिरता में अन्त पयान मिला॥

(४)

है कलक में कीर्ति यहाँ पर
उलटा सत्य प्रमान मिला।
दुनिया के मरघट-तट पर ही,
उन्मादों को ज्ञान मिला॥

चलते चलते रुक जाने में,
विधि का यहाँ विधान मिला।
इन्ही मूक इगितियों में,
बलिदानो में वरदान मिला॥

—लखनऊ १९४०

अभिलाषा

(१)

लिख दूँ माँ वह छन्द कि जिससे,
बन्द बन्द बन्दी के तड़कें।
गतिमय शिथिल धमनियाँ होवें,
आलस-वलित वीर भुज फड़कें॥

(२)

भैरव स्वर भर जाय विश्व में,
मानव मानव से मिल जाये।
चरण चरण की ध्वनि से अब तो,
यह ब्रह्माण्ड दहल हिल जाये॥

(३)

क्षण में बरण बरण के सुबरण,
चमक उठें बन ज्वाल-माल से।
मिलें धरा-धाराधर खेलें,
फाग दौड़ कंकाल काल से॥

(४)

फूल फूल मिल जाँय जलधि के,
नाश और निर्माण साथ हों।
बरसें आग और पानी भी,
पाप-पुण्य सब एक हाथ हों॥

(५)

कायरता के काले भू-धर,
काँपे और पिघल वह जायें।
तथा रुद्र - सिंहासन डोले,
बन्धन-बाँध सभी वह जायें॥

(६)

जीवन-मृत्यु साथ खुल, खेलें,
प्रलय-काल का लेखा भी हो।
महाकाल ने इसके, पहिले,
काल न ऐसा देखा भी हो॥

(७)

सन्देशों के सरगम से ही,
चण्डी इधर पुकार रही है।
विजय - वधू - वर कीर्ति - माल ले,
स्वागत उधर सँवार रही है॥

(८)

अमर गीत सुन अमर लोक से,
अमर समर में आ जायेंगे।
तभी मरुत्वा चरण-शालिनी सी,
अञ्जलि भर धर पा बाँधेंगे।

—[illegible] १९४०



सुख-दुख

(१)

क्या कल था, क्या आज हुआ है, कल होगा क्या जानें ?
व्यर्थ विवाद भला सुख-दुख का, क्यों हम मानव ठानें ?
छाया से छू कर हट जाते, माया दिखलाते हैं ?
काया को कलुषित करने ही, यह सुख-दुख आते हैं ?

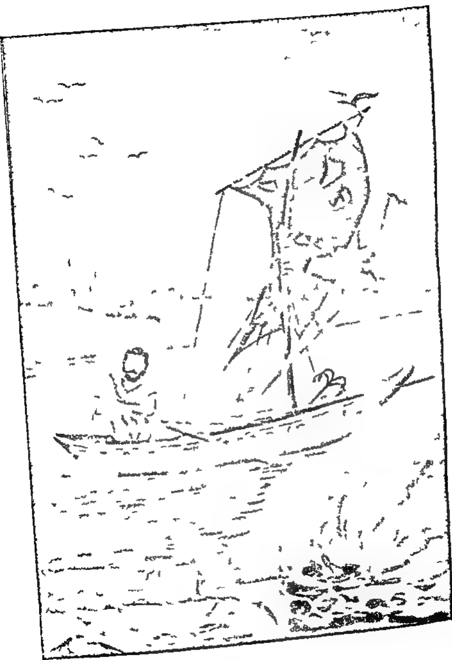
(२)

जो दुख द्रौपदि-चीर बना था, महा-सिन्धु माने थे।
शेष कहानी केवल जिसको, अपनी निधि जाने थे ॥
सुख-दुख में अतृप्त रहता मन, क्यों कातर बन घूमें ?
कायरता से ही दुख होता, क्यों मानव पग चूमें ?

(३)

साँझ सबेरे से आते हैं, धूप-छाँह से मिटते।
अथ-इति लिये काल-क्रम से ही, दुख-सुख-जाल सिमिटते ॥
ले उत्थान-पतन लहरों सा, बनना - मिटना आया।
सुख-दुख जीवन, सरि के दो तट, इनको कटते पाया ॥
ले सन्तोष तरणि चल आगे, वह गन्तव्य दिखाता।
यहाँ न सुख-दुख-जीवन-जग का, रहता मिथ्या नाता ॥

प्रयाग,
१२-६-४१



माँझी से

(१)

मत हाथ लगाओ तुम माँझी, यह नैया यों ही रहने दो ।

कुचल चली लहरें चिर परिचित,
छोड़ चली अनुकूल कूल-हित,
आघातों पर ही है जीवित,
कर न सकी अपना पथ सीमित,

पतवारों से जर्जर न करो, है जैसी वैसी रहने दो ।
मत हाथ लगाओ तुम माँझी, यह नैया यों ही रहने दो ॥

(२)

झुक-झुक जाता है जलज-जाल,
घिर-घिर रुकती है जलद-माल,
झोंकों से झुकता जीर्ण पाल,
टाढ़े उर पर लंगर कराल,

आतप-वर्षा के अनाचार, सहती है चुपके सहने दो ।
मत हाथ लगाओ तुम माँझी, यह नैया यों ही रहने दो ॥

(३)

है कल-कल ध्वनि ही सजल स्वास,
चलना ही है इसका विकास,
तट से न प्रीति, जल में निवास,
माँझी की इंगिति में विलास,

है कभी चिता के निकट कभी, मंदिर-तट रहती, रहने दो।
मत हाथ लगाओ तुम माँझी, यह नैया यों ही रहने दो॥

(४)

नगरों से भी अनुराग नहीं,
वन से भी इसे विराग नहीं,
मरघट का इसको त्याग नहीं,
थिर रहने का सौभाग्य नहीं

यह मूक-मीन जल प्रीति किये, जैसे बहती है बहने दो।
मत हाथ लगाओ तुम माँझी, यह नैया यों ही रहने दो॥

(५)

मतवाली है यह मीरा सी,
चलती है प्रेम-अधीरा सी,
उर लिये प्रेम की पीरा सी,
गौतम-बाला मण-वीरा सी,

वनवासी-प्रभु-पद-रज-आशा, उर में ले बहती बहने दो।
मत हाथ लगाओ तुम माँझी, यह नैया यों ही रहने दो॥

(६)

दुखिया निषाद की आशा सी,
इस जगती की परिभाषा सी,
जीवन-चौपड़ की पाँसा सी,
शिशु की तुतली मृदु भाषा सी,

यदि जीवन में रहना ही है, मत छेड़ो इसको बहने दो।
मत हाथ लगाओ तुम माँझी, यह नैया यों ही रहने दो॥

प्रयाग १८-५-४१]

चेतावनी

खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता ?

(१)

बेगानों को अपना कहता,
स्वासों की नैया पर बहता,
जग की विषम वेदना सहता,

सदा कल्पना के गढ़ गढकर, क्यों तू फूला नहीं समाता।
खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता ?

(२)

दुख को सुख, सुख को दुख माना,
पीतल, हेम, काच, मणि जाना,
जग रहस्य को कब पहिचाना ?

क्यों अपनी डफली लेकर तू, अपना बेसुर राग बजाता।
खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता ?

(३)

पर-हित-चिन्तक बना न जग में,
रोड़ा बन अटका पग-पग में,
अजा-गल-स्तन सा इस जग में,

आज और कल के झूले में, पेंग मारता फिर रह जाता।
खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता ?

(४)

कलित कलेवर कामिनि कंचन,
थिरक उड़ेंगे जैसे खंजन,
लगा लोचनों में ज्ञानाञ्जन,

तब दीखेगा जन-मन-रंजन, त्राता जो सब को न दिखाता।
खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता ?

(५)

सौख्य-शान्ति से स्नेह जोड़ कर,
क्रोध-मोह का मान तोड़ कर,
मद से भी मुँह शीघ्र मोड़ कर,

आओगे तब देख सकोगे, जग का सच्चा भाग्य-विधाता।
खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता ?

इकमद

(६)

आज मिलो, कल मिल न सकोगे,
माया-सर में हिल न सकोगे,
खिले अभी, फिर खिल न सकोगे,

भूल, महात्वाकाक्षाओं को, कुछ भी जब न साथ में जाता।
खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता?

(७)

मिल, जायेगा तत्व- तत्त्व से,
मतलब क्या फिर है महत्त्व से,
मिक्षा क्या, अमरत्व-स्वत्त्व से,

बन्धन-मुक्त-बिहारी होंगे, छूटेगा मिथ्या जग-नाता।
खबर नहीं कब चल देना है, क्यों फिर इतने साज सजाता?

—प्रयाग, १०–१–४१



एक गीत

तुमसे मिलूँ कहाँ मैं कैसे ?
लोक-लाज-बन्धन में जकड़ा,
बेबस प्रेमी बन्दी जैसे।

(१)

उमड़े जलद लिये नव-जीवन,
पर न मरा विरही-चातक मन,
करती आशा-मयूरी नर्तन,
है निश्चय, होगा परिवर्तन,
देख लिया करता हूँ मैं भी,
मिलन स्वप्न ही जैसे-तैसे।
तुमसे मिलूँ कहाँ मैं कैसे ?

(२)

यहाँ स्वर्ण के दीप नहीं है,
आँखें घन बन बरस रही है,
आडम्बर श्रृंगार नहीं है,
और ज्योति-सचार नहीं है,
भेंट धरे दुखिया कुटिया में,
टूटे अक्षत जैसे-तैसे।
तुमसे मिलूँ कहाँ मैं कैसे ?

(३)

मूल कभी यदि आ जाओगे,
फिर न छूटकर जा पाओगे,
सु-मन समर्पण पा जाओगे,
निर्धन के धन बन जाओगे।

मुझ बन्दी के सँग बन्दी बन,
रहना तुम भी, जैसे-तैसे।
तुमसे मिलूँ कहाँ मैं कैसे?

(४)

मन्दिर, मसजिद, गिरजा देखा,
राम, खुदा, ईश्वर कह देखा,
तप कर देखा, जप कर देखा,
जी कर देखा, मर कर देखा,

सब कर देखा, किन्तु न जाना,
मोहन तुम हो सचमुच कैसे।
तुमसे मिलूँ कहाँ मैं कैसे?

—प्रयाग २–८–४१

कुछ मुझसे कहने आये थे।

(१)

दीन - अपावन पावन करने,
उर-तम मे प्रकाश निज भरने,
पल को युग, युग को पल करने,
बस क्षण भर रहने आये थे।

(२)

वाणी में स्वर-रस साधन दे,
रस में जीवन - आराधन दे,
आराधन में निज दर्शन दे,
तुम भूल बताने आये थे।

(३)

इस ममता की अँधियारी में,
मेरी जीवन - फुलवारी में,
निज कान्ति-किरण-उजियारी में,
बन अरुण बाल-रवि आये थे।

(४)

पापों की ज्वाला शान्ति किये,
मेरे मन की सब भ्रान्ति लिये,
निज इगिति में ही क्रान्ति लिये,
उर-आँगन-घन बन आये थे।

(५)

सोते से मुझे जगाने को,
मेरे गीतों के गाने को,
इस कर्म-क्षेत्र में लाने को,
तुम मोहन बनकर आये थे।

सूर्यग्रहण—
प्रयाग १८-६-४२

